I.S.S.N. 0975-6531

₹50/-

वैचारिकी

VAICHARIKI

जनवरी-फरवरी 2020 * भाग 36 - अंक 1

भारतीय विद्या मन्दिर

धर्म-दर्शन-विज्ञान, साहित्य-लोकसाहित्य, इतिहास-पुरातत्त्व, कला-लोककला की द्वैमासिक शोध पत्रिका

• वैचारिकी •
जनवरी-फरवरी 2020 भाग 36 अंक 1

फागुन

-रवीन्द्रनाथ ठाकुर

ओ रे भाई फागुन लेगेछे बोने-बोने
डाले डाले, फूले-फले, पाताय-पाताय रे
आड़ाले-आड़ाले, कोने-कोने
ओ रे भाई फागुन लेगेछे बोने-बोने

रंगे-रंगे रंगिलो आकाश
गाने-गाने निखिल उदास
जेनो चले- चंचल नव पल्लव दल
मर्मरे मोर, मोने-मोने
फागुन लेगेछे बोने-बोने

हेरो हेरो अबनीर रंग
गगनेर करे तपोभंग
हासिर आघाते तार मौन रहे ना आर
केंपे-केंपे उठे खोने-खोने
बातास छूटिछे बनमय रे
फूलेर ना जाने परिचय रे
ताई बूझि बारे-बारे कुञ्जेर द्वारे-द्वारे
शूधाए फिरिछे जोने जोने
फागुन लेगेछे बोने-बोने

(अरे भाई वन-वन में फागुन आ गया है, डाल-डाल पर, फूलों पर, फलों पर, पत्ते-पत्ते पर छिपे हुए और कोने-कोने में फागुन आ गया है। रंग-रंग से रंग गया है आकाश और सारी उदासी अब गीतों से मिट गई है। लगता है जैसे मेरे अन्तर में नई कोपलें फूट पड़ी हैं। धरती की हरीतिमा आकाश के तप को भंग कर रही है। हँसी के शोर में उसका मौन और नहीं रह पाता, इसलिये वो क्षण-क्षण में कांप उठता है। पूरे वन-प्रांतर में बयार प्रवाहित हो रही है और किसी पुष्प का भी परिचय उसके पास नहीं है। तभी तो वो कुंज में हर किसी से उसका परिचय पूछते हुए ये आश्वस्त भी होना चाहती है कि क्या वन-वन में फागुन आ गया है।)

चित्र : महादेव लाल बरई, पुरुलिया तथा गूगल से साभार

वैचारिकी

भारतीय विद्या मन्दिर की द्वैमासिक शोध पत्रिका

वर दे, वीणावादिनि वर दे !
प्रिय स्वतंत्र-रव अमृत-मंत्र नव भारत में भर दे !
काट अंध-उर के बंधन-स्तर बहा जननि, ज्योतिर्मय निर्झर;
कलुष-भेद-तम हर प्रकाश भर जगमग जग कर दे!
नव गति, नव लय, ताल-छंद नव नवल कंठ, नव जलद-मन्द्ररव;
नव नभ के नव विहग-वृंद को नव पर, नव स्वर दे!
वर दे, वीणावादिनि वर दे!

डॉ. बिट्ठलदास मूंधड़ा
अध्यक्ष एवं प्रधान सम्पादक

भारतीय विद्या मंदिर

अध्यक्ष एवं प्रधान संपादक
डॉ. बिट्ठलदास मूंधड़ा

संपादकीय कार्यालय
भारतीय विद्या मंदिर
12/1, नेली सेनगुप्ता सरणी
कोलकाता-700 087

दूरभाष : 033-71001614
ई-मेल : bvm.vaicharikì@gmail.com
Website : www.bharatiyavidyamandir.org

प्रबंधकीय पत्राचार
शंकरलाल सोमानी
27, शेक्सपीयर सरणी
कोलकाता-700 017
दूरभाष : 033-2301 1504
मोबाइल : 09830559364

सदस्यता शुल्क
एक प्रति 50/- रुपये
वार्षिक 300/- रुपये
द्वैवार्षिक 600/- रुपये

भुगतान
Payee's Name:
BHARATIYA VIDYA MANDIR
Current A/c No. : 32030320176
Bank : STATE BANK OF INDIA
Branch: New Market
IFSC Code No. : SBIN0004662

ISSN 0975-6531 **वर्ष : 36 अंक : 1**

वैचारिकी

धर्म-दर्शन-विज्ञान, साहित्य-लोकसाहित्य, इतिहास-पुरातत्व, कला-लोककला
विश्वविद्यालय अनुदान आयोग मान्यता क्रमांक 40935

जनवरी-फरवरी, 2020 ईस्वी ✷ पौष शुक्ल 6 - फाल्गुन शुक्ल 6, 2075 वि. सं. ✷ ₹ 50/-

अनुक्रम

- **काल गणना में खगोलीय तत्व**
  डॉ. अलकनन्दा शर्मा 6
- **भारत की अभिवादन संस्कृति**
  डॉ. विष्णु चन्द्र पाठक 16
- **पुष्टिमार्ग में वसंत की भाव-भावना**
  पं. रमेश उपमन्यु 22
- **राजस्थान की अनतिख्यात संत महिलाएं**
  डॉ. अर्चना द्विवेदी 27
- **भरतपुर क्षेत्र की शैव प्रतिमाएं**
  डॉ. उमराव सिंह 33
- **रुहेलखण्ड : नामकरण और विस्तार**
  शराफ़त अली खान 40
- **ताजमहल राजा मानसिंह का महल था**
  डॉ. आनन्द शर्मा 44
- **भारतीय डायस्पोरा फिजी के विशेष सन्दर्भ में**
  डॉ. तेजसिंह मावई 50
- **अजमेर के ऐतिहासिक और दर्शनीय स्थल**
  उर्मिला शर्मा 55
- **आहड़ संस्कृति : उत्पत्ति, प्रसार, विशेषताएँ एवं पतन**
  प्रो. डॉ. ललित पाण्डेय 61
- **हिमाचल प्रदेश की सांस्कृतिक धरोहर प्रसिद्ध लोकनाट्य : करियाला एवं ठोडा**
  डॉ. भवानी सिंह 75
- **पाठक-मंच** 86
- **साहित्य : वर्ग विभाजन पर आधारित** (धनराज दफ्तरी), **मोदकैर्मम् ताडय** (डॉ. ए. ए. श्रीवास्तव)
- **प्रतिस्वर** 89

■ प्रकाशित सामग्री के उपयोग हेतु लेखक-प्रकाशक की अनुमति आवश्यक।
■ प्रकाशित लेखादि में अभिव्यक्त विचारों से प्रकाशक-सम्पादक का सहमत होना आवश्यक नहीं है।
■ समस्त विवादों के लिए न्यायालय क्षेत्र कोलकाता।

प्रिय सुधी पाठकों!

वैचारिकी का जनवरी-फरवरी 2020 अंक आपके हाथों में है। हमारे पिछले अंकों की निरन्तरता इस बीच बाधित हुई है और हम मार्च-अप्रैल 2019 के बाद अंक प्रकाशित नहीं कर सके, जिसका हमें खेद है। हम अब आश्वस्त करने की स्थिति में हैं कि इसके बाद आपको हमारे अंक नियमित मिलते रहेंगे।

वैचारिकी का कुशल सम्पादन एक अर्से से हिन्दी और राजस्थानी के विद्वान डॉ. बाबूलालजी शर्मा कर रहे थे, लेकिन वे इधर स्वास्थ्य एवं व्यक्तिगत कारणों से स्थायी रूप से जयपुर (राजस्थान) चले गये हैं। उनसे मेरा व्यक्तिगत सम्बन्ध तो लगभग तीन दशकों से रहा है। वे इस पत्रिका के अतिरिक्त भारतीय विद्या मंदिर के विभिन्न साहित्यिक, सांस्कृतिक क्रिया-कलापों से भी गहराई से जुड़े रहे। हम उनकी सेवाओं के लिए तहेदिल से शुक्रगुजार हैं और उनके लम्बे एवं स्वस्थ, सक्रिय जीवन की कामना करते हैं।

भारतीय विद्या मंदिर की स्थापना बीकानेर में रक्षाबन्धन के दिन 19 अगस्त 1948 को मेरे पितामह **श्रद्धेय श्री गिरधरदासजी मूंधड़ा** ने की थी और वो भी उन शरणार्थियों के लिए, जो भारत विभाजन का शिकार होकर पाकिस्तान से बीकानेर आये थे। उनके लिए तथा कुछ स्थानीय गरीब एवं श्रमजीवी युवकों को उचित शिक्षा एवं रोजगार का प्रशिक्षण देने के उद्देश्य से शुरुआती दौर में रात्रि विद्यालय के रूप में स्थापना की गई थी। अब बीकानेर में बच्चों के लिए दो हिन्दी स्कूल, एक गिरधरदास मूंधड़ा बालभारती प्राथमिक विद्यालय तथा दूसरा गिरधर दास मूंधड़ा माध्यमिक विद्यालय एवं एक अंग्रेजी माध्यम का जी.डी.एम. पब्लिक स्कूल और हमारा एक शोध संस्थान भी बखूबी चल रहा है, जिसके अंतर्गत प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथों, वार्ताओं, प्राचीन साहित्य आदि की खोज और संग्रह का महत्वपूर्ण कार्य हो रहा है। यह संस्था फिर मेरे पिताश्री **माधोदासजी मूंधड़ा** से होते हुए विरासत के रूप में मेरे पास आयी, जिसे मैं उनके आशीर्वाद से अपना सौभाग्य समझकर कर्त्तव्य का निर्वहन कर रहा हूं। कौशल विकास प्रशिक्षण के अंतर्गत उन साधारण श्रमिकों के स्तर का ध्यान रखते हुए हिन्दी भाषा में उन्हें प्रशिक्षण उपलब्ध कराया जा रहा है, जिसके लगातार सकारात्मक परिणाम भी आ रहे हैं।

भारतीय विद्या मंदिर के अंतर्गत ही इस पत्रिका के अलावा भारतीय संस्कृति एवं शिक्षण, शोध कार्य, ग्रंथों का प्रकाशन तथा कौशल विकास प्रशिक्षण के कई कार्यक्रम संचालित किये जाते हैं। देश के सुप्रसिद्ध अभियांत्रिकी प्रतिष्ठान सिम्पलेक्स इंफ्रास्ट्रक्चर्स लिमिटेड का सहयोग जब 2005 में इस विद्या मंदिर को मिला तो वैचारिकी पत्रिका तथा हमारे और भी साहित्यिक, सांस्कृतिक तथा कौशल विकास के कार्यक्रमों को पंख लग गये और त्वरित गति से दोनों सहयात्री ही बन गये। मेरी मंशा इस समय संस्था के बारे में और विस्तार से चर्चा करने

की नहीं है, अभी तो हम एक बार फिर नये जोश, उत्साह से अंग्रेजी नव-वर्ष से 'वैचारिकी' के प्रकाशन की निरन्तरता एवं समयबद्धता के लिये कृतसंकल्पित होने की दिशा में अग्रसर हो रहे हैं।

नव-वर्ष वैसे तो पूरे विश्व में अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग तिथियों एवं तरीकों से मनाया जाता है। विभिन्न सम्प्रदायों के नव-वर्ष समारोह भी निश्चित ही भिन्न-भिन्न होते हैं और इसका महत्व भी विभिन्न संस्कृतियों में मिलता है।

नव वर्ष जबसे भी हम माने, लेकिन एक बात तो तय है कि हम अपने बीते वर्ष की उपलब्धियों/ अनुपलब्धियों का आकलन तो करते ही हैं और नये साल का आगाज़ नये उत्साह और संकल्पों तथा उम्मीदों से करते हैं।

वैसे जनवरी का स्वागत तो हम करेंगे ही, क्योंकि इसी महीने की 10 तारीख को हम विश्व हिन्दी दिवस मनाते हैं जिसका उद्देश्य विश्व में हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिए जागरूकता पैदा करना और हिन्दी को अंतर्राष्ट्रीय भाषा के रूप में स्थापित करना है। विदेशों में भारतीय दूतावास इस दिन को विशेष रूप से मनाते हैं। विश्व में हिन्दी के प्रचार-प्रसार करने के उद्देश्य से ही विश्व हिन्दी सम्मेलनों की शुरूआत की गई थी और प्रथम विश्व हिन्दी सम्मेलन 10 जनवरी 1975 को नागपुर में हुआ था और यही दिन विश्व हिन्दी दिवस के रूप में मनाया जाता है। वैसे तो हमारे संविधान के अनुसार 14 सितम्बर 1949 को हिन्दी को राजभाषा के रूप में स्वीकृति मिली थीं, लेकिन जिन अर्थों में हिन्दी को राष्ट्रभाषा का दर्जा का सम्मान मिलना चाहिये, उससे हम अभी काफी दूर हैं।

ये हमारा सौभाग्य नहीं बल्कि दुर्भाग्य ही कहा जायेगा कि आजादी के लगभग पौना शतक बीत जाने पर भी हमें हिन्दी दिवस, हिन्दी पखवाड़ा या फिर हिन्दी माह मनाना पड़ रहा है। यूरोप के किसी देश में भी इस तरह के किसी दिवस को मनाने का कोई चलन नहीं, क्योंकि वहां की भाषा, राष्ट्रभाषा के रूप में स्वतः ही बोली जाती है और समादृत है। एशिया के देशों में भी भारत के अलावा शायद ही कोई देश हो जहां अंग्रेजी का ऐसा जानलेवा वर्चस्व हो।

हिन्दी हमारी पहचान है और हमारे भारतीय विद्या मंदिर ने तो अभी दो वर्ष पूर्व ही त्रिदिवसीय अंतर्राष्ट्रीय हिन्दी सम्मेलन आयोजित किया था, जिसमें देश-विदेश से आये विद्वानों ने शिरकत की थी और उस अद्भुत संगम में सभी हिन्दी सेवियों ने कई पक्षों से अवगाहन किया था।

हम तो लगातार यही अपेक्षा करते हैं कि सब अच्छा हो, सब तरफ सुख हो, शांति हो और हमारे जीवन में कभी भी दुख की छाया तक न पड़ने पाये, पर क्या ऐसा होता है, शायद कभी नहीं। सुख और दुख तो सापेक्ष हैं। मौसम में भी तरह-तरह की तब्दिली होती है, पतझड़ आता है और हरे-भरे पेड़ ठूंठ में तब्दील हो जाते हैं, लेकिन फिर धीरे-धीरे नये पत्ते उगते हैं। बसंत का आगमन होता है। चारों ओर हरियाली छाने लगती है। तरह-तरह के फूलों की सुगंध वातावरण में फैलने लगती है। खेतों में सरसों के पीले फूल और गेहूं की बालियों से धरती का शृंगार होने लगता है। अन्तर में प्रेम की उमंग उठने लगती है और बिखरने लगता है हर ओर प्यार ही प्यार। इसी एक माघ से बसंत की शुरुआत मानते हैं और बसंत पंचमी के दिन तो विद्या की देवी सरस्वती का दिन भी है और उनके ब्रह्माजी द्वारा आविर्भाव का भी दिन। इसी दिन से तो बच्चों को ककहरा सिखाने की शुरूआत भी होती है। युवा दिलों के प्रेम के इजहार का दिन भी है तभी तो ऐसे दिन और रात को प्रेमी हृदय विरह की बात से ही परहेज करते हुए कविवार गोपालदास नीरज के शब्दों में कहता है–

आज बसंत की रात, गमन की बात न करना।
धूप बिछाये फूल बिछौना, बगिया पहने चांदी-सोना।।
कलियां फेंके जादू टोना, महक उठे सब पात, हवन की बात न करना।
आज बसंत की रात गमन की बात न करना।।

वैसे तो वसंत पर हमारे अधिकतर कवियों ने अपनी लेखनी चलाई है। चाहे पंत, निराला अथवा महादेवी वर्मा हों या फिर आधुनिक कवियों ने भी। दरअसल यह मौसम ही इतना सुहावना है कि कवि हृदय से शब्द अनायास फूट निकलते हैं। मौसमों की तब्दिली स्वाभाविक रूप से होती है और सुख-दुख भी अपने क्रम से आता है और रात का निविड़ अंधकार भी जब बीतता है, पौ फूटती है और पूरब में फैल जाता है मुट्ठी भर सिन्दूर और फिर उदय होता है हमारी आशाओं का नया सूरज! वैसे तो हमारे अन्तर्मन में ही है बंसत का स्रोत, लेकिन हमें उसकी सुधि नहीं और हम मृग-मरीचिका से भटकते रहते हैं। दरअसल हमारे अंदर और बाहर बसंत ही बसंत है बशर्ते हम अपने विचारों में समर्पण, दृष्टि में परिवर्तन लाएं तभी तो किसी शायर ने क्या खूब कहा है-

गाफ़िल जरा निगाह से पर्दा हटा के देख
आलम के ज़र्रे-ज़र्रे में जलवे ख़ुदा का देख।
जो अब जुदा है, आयेगा तुझको खुदा नजर
नुक्ता जरा निगाह से अपनी हटा के देख।।

और फिर हम वैसी दृष्टि पाने के लिए ही तो वृहदारण्यक उपनिषद् का मंत्र अनायास उच्चारण कर उठते हैं–

ओऽम् असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय
मृत्योर्मामृतं गमय, ओऽम् शांति, शान्ति, शान्ति!

यानि मुझे असत्य से सत्य की ओर ले चलो, मुझे अंधकार से प्रकाश की ओर ले चलो, क्योंकि मृत्यु तो निश्चित है और जीवन तथा मृत्यु का अंतर मात्र एक सांस का है। किसी शायर ने सच ही कहा है—

जिन्दगी और मौत क्या, फ़कत इतनी ही बात है
किसी की आँख खुल गई, किसी को नींद आ गई।

तो जब तक हमारी आँखें खुली हैं, हम सत्कर्मों की ओर चलते रहें- चरैवेति, चरैवेति....

हमारे विचारों की यात्रा, हमारी आपकी 'वैचारिकी' की यात्रा आप सब की शुभेच्छाओं के साथ चलती रहे। हम इसी यात्रा के क्रम में व्यापक फलक प्रदान करने हेतु 'वैचारिकी' का शीघ्र ही ई. संस्करण भी लेकर आयेंगे।

अब एक बात और साहित्य और संस्कृति के अलावा मेरे परिवार में पितामह श्री गिरिधरदासजी मूंधड़ा से ही संगीत के प्रति भी विशेष रूचि रही है। मेरे पिताश्री माधोदासजी मूंधड़ा, मैंने स्वयं तथा परिवार के और बच्चों ने भी संगीत मार्तण्ड पंडित जसराज जी के बड़े भाई पं. मणिरामजी से संगीत की शिक्षा ली थी। पं. जसराज जी से हमारे हमेशा ही पारिवारिक संबंध रहे हैं और मैं उनके 90वें जन्मदिन (28 जनवरी 2020) पर अपनी आंतरिक शुभकामनाएं प्रकट करता हूं और ये आकांक्षा रखता हूं कि उन्हें उनके 100वें जन्म दिन पर भी उनसे मिलकर अपनी श्रद्धा निवेदित कर सकूं।

इस बीच हमसे नियति ने साहित्य जगत की विभिन्न विचारधाराओं के लेखक खगेन्द्र ठाकुर, गंगा प्रसाद विमल, स्वयं प्रकाश तथा गिरिराज किशोर के अलावे और भी साहित्य संस्कृति संगीत से जुड़े मनीषियों ने विदा ले ली है। हम उन्हें अपनी श्रद्धा निवेदित करते हैं। 'वैचारिकी' दरअसल किसी भी वाद या विचार का स्वागत और सम्मान करती है जो राष्ट्रहित में हो, मानव-हित में हो।

वर्तमान में हमें श्री रावेल पुष्प जी का सक्रिय सहयोग मिल रहा है। आशा है कि इनके सहयोग एवं आपके पत्रों एवं बहुमूल्य सुझाओं की भी हम बेसब्री से प्रतीक्षा करेंगे ताकि वैचारिकी को और भी बेहतर बनाया जा सके।

वसंत की शुभकामनाओं के साथ

बिट्ठलदास मूंधड़ा

(डॉ. बिट्ठलदास मूंधड़ा)

काल गणना में खगोलीय तत्व

डॉ. अलकनन्दा शर्मा

काल स्वयं में एक गूढ़ विषय है। समय की ठीक परिभाषा करना बहुत ही कठिन है, कारण कि आइंस्टीन के अविष्कार के बाद समय को एक सापेक्ष अवस्था माना गया है जो कि समायांकन करने वाले की खुद की गति पर निर्भर करता है। इस बारे में एक आइंस्टीन की लोकोक्ति महत्वपूर्ण है – वे कहते हैं – "There was a lady named miss Bright who could have traveled much faster than light, she started one day in an einstienian way and reached the same point previous right".

उक्त सिद्धांत के आधार पर समय के उल्टे चलने की संभावना भी है किन्तु व्यवहारिक जगत में यदि सापेक्षवाद को एक तरफ रख दिया जाये तो समय को हम इस प्रकार परिभाषित कर सकते हैं। समय वह अवधारणा है जिससे दो घटनाओं के क्रम को तय किया जा सकता है, कौन सी घटना कब घटी, कौन सी पहले घटी आदि समय पर निर्भर है।

व्यवहारिक जगत में समय की व काल के गणनों की उत्पत्ति का मूल कारण सूर्य व चन्द्रमा तथा पृथ्वी रहे हैं। इनकी गतियों के आधार पर हमने दिन रात को जाना, पक्ष–मास को जाना, ऋतु और ऋतुओं की पुनर्रावृत्ति को जाना, और इसी प्रकार वर्ष को भी जाना। सारे व्यवहारिक कैंलेण्डर इन तीन ज्योति पिण्डों की गतियों के आधार पर बनाये गये हैं। इतना ही नहीं लगभग संसार के सभी कैंलेण्डरों में शुद्धि व विकास का क्रम भी रहा जिसका आधार भी इन ग्रहों की गतियों को माना है। किसी कैलेण्डर में लीप इयर जोड़ा गया है तो किसी कैलेण्डर में अधिक मास जोड़ा है। इनका आधार भी ग्रहों की गतियाँ ही रही हैं। आज के इस विकसित युग में समय की सूक्ष्मता से नापने की आवश्यकता पड़ गयी है इसलिए आपने सुना होगा कई बार समाचार आता है कि समय में एक सेकण्ड की वृद्धि कर दी जाती है। यह टाइम एफेमेरिज टाइम होता है। (पंचांग समय) जो कि ग्रहों की सूक्ष्म गतियों के आधार पर निर्धारित किया जाता है, मुख्यतया चन्द्रमा के कारण। वैज्ञानिकों के लिए यह सर्वमान्य काल है।

दिनों की गणना के लिए सूर्य का उदय होना फिर दूसरे दिन उदय होना, फिर अगले दिन उदय होना माना जाता है सूर्य का उदय काल वस्तुतः पृथ्वी का घूर्णन तथा पृथ्वी के परिभ्रमण पर निर्भर करता है।

पृथ्वी के घूर्णन की गति एक समान रहती है जिसके आधार पर संपातकाल को लिया जाता

है इसका जिक्र हम बाद में करेंगे। पृथ्वी के परिभ्रमण की गति एक जैसी नहीं रहती इसलिए भूमध्य रेखा पर भी सूर्य उदय का समय बदलता रहता है एतदर्थ किसी देशान्तर पर समय को तय करते समय हम इस परिभ्रमण की गति के मध्यम मान को लेकर समय का निर्धारण करते हैं। इसलिए हम उसे मध्यम स्थानीय मान कहते है। यहीं वास्तव में विभिन्न प्रकार से हमारी घड़ी का आधार है।

ब्रह्माड के सारे पिण्ड विचरणशील हैं। ये अपनी स्थितियाँ बदलते रह रहे हैं। यह बदलाव सत्त् जारी है कहा जाता है "Universe is expanding"–अर्थात् सारा ब्रह्माण्ड फैल (फूल) रहा है जैसे कि गुब्बारे में हवा भरने पर वह फूलता है वैसे यह सारा ब्रह्माण्ड फैल रहा है। जो पिण्ड हमको पुनः आवृत्त होते दिखाई देते हैं वस्तुतः अपने पुनरावृतन में वे वही मार्ग तय नहीं करते जो वह पिछली बार तय कर चुके हैं। वास्तव में इनका वलय पूर्ण चक्कर न होकर कुछ खिसकता हुआ कुण्डली आकार के चक्र जैसे (Spiral) होता है।[1]

इसी प्रकार इन ज्योतिपिण्ड़ों का अपनी धुरी पर घूर्णन भी अलग विशेषता लिए हुए है। उदाहरण के तौर पर हम पृथ्वी की धूरी को ले तो हम कहते हैं कि पृथ्वी की दोनों धूरियाँ उत्तर ध्रुव व दक्षिणी ध्रुव को इंगित करती है जो कि क्रांति वृत्त से साढ़े तेईस डिग्री झुका हुआ है। साधारणतः हम सोचते हैं कि जिन बिन्दुओं को यह धूरी इंगित करती है अर्थात् उत्तरी ध्रुव, दक्षिणी ध्रुव निश्चित स्थिर बिन्दु है जो कि सत्य नहीं है, सत्य यह है कि ये दोनों बिन्दु एक वृत्ताकार में घूमते रहते हैं। जिसका एक चक्र पूरा होने में 26000 वर्ष लगते हैं। इसी कारण से संपात बिन्दु (Vernal Equinoctial) पश्चिम में खिसकता है इस प्रक्रिया को हम पृथ्वी का झूमना (precesion) कहते हैं। व्यवहारिक जगत में इस झूमने के कारण ऋतुओं में परिवर्तन आता रहता है अर्थात् जिस दिन दिन-रात बराबर होते हैं उस दिन सूर्य जिस नक्षत्र में होता है वह बदलता रहता है विभिन्न काल अवधियों में ऋतुओं के अध्ययन से कुछ काल की गणना इस झूमण से किया जा सकता है इसी को आधार बनाकर कई विद्वानों ने वेदों के काल की गणना की है।[2]

अद्‌भुत विचित्र है यह ब्रह्माण्ड़, उसका हर कम्पन्न काल की कोई न कोई अभिव्यक्ति कर दी जाती है अभी हमने पृथ्वी की धूरी की बात कही है जो शंकुकार में झूमती है और हमने यह भी बताया है कि यह क्रांतिवृत्त से साढ़े तेईस डिग्री अंश झुकी हुई है। यह भी सच नहीं है क्योंकि इसका झुकाव बदलता है इस समय इसका झुकाव 23 अंश 27 कला है जो प्रतिवर्ष घट रहा है। घटते–घटते यह साढ़े इक्कीस अंश तक हो जायेगा। जब ऐसी स्थिति होगी तब सूर्य का परिभ्रमण उत्तरी गोलार्द्ध में साढ़े इक्कीस अंश तक तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में साढ़े इक्कीस अंश तक रहेगा जो कि अभी साढ़े तेईस अंश माना जा रहा है। निश्चित ही ऐसी स्थिति में पृथ्वी के तापमान का संतुलन विचित्रता लिए हुए होगा। भूमध्य रेखा से 25 अंश ऊपर तक 25 अंश नीचे धरती आग उगल रही होगी तथा उत्तरी गोलार्द्ध व दक्षिणी गोलार्द्ध एकदम ठण्ड़े हो रहे होंगे। शीतोष्ण कटिबन्ध क्षेत्र में पानी की नमी बहुत बढ़ जाएगी कहीं अत्यधिक वर्षा होगी तो कहीं अत्यधिक लू चलेगी। सुदूर उत्तरी भाग और सुदूर दक्षिणी भाग में हिम खण्ड बढ़ते जायेंगे। यह हिमकाल का दूसरा अतिकाल होगा इसकी विपरीत हम पीछे चले तो पृथ्वी की धूरी अधिक झुकी हुई थी इसका अधिकतम झुकाव साढ़े चौबीस अंश था उस स्थिति में भी मौसम बहुत विचित्र व परिवर्तित रहा होगा। ऐसे समय में उत्तरी व दक्षिणी गोलार्द्ध में हिमखण्ड बनते होंगे और थोड़े से पिघलते होंगे।[3] जब वहाँ ऊष्मा पहुँचती होगी वह पिघलते व खिसकते होंगे वह मन्दगति वाली हिम नदियाँ होगी। उक्त प्रकार का वर्णन जो हमने किया अर्थात् पृथ्वी की धूरी को झुकाव में अन्तर आना का पूर्ण चक्र लगभग 40000 साल में होता है और इनके चरम स्थितियाँ 20000–20000

साल में रही होगी। चरम स्थिति के दो वर्ष पहले व दो वर्ष बाद तक संसार के वातावरण व वायुमंडल में हिम व अग्नि की वर्षाएं अंदोलित किए हुए होगी। इन दोनों चरम स्थितियाँ थोडी सी भिन्न अवश्य होगी एक चरम स्थिति में हिम खण्ड बहेंगे व दूसरी स्थिति में हिम खण्ड सघन बने रहेंगे एक स्थिति में वर्षा का आधिक्य होगा तो दूसरी स्थिति में गरम हवाओं का इस प्रकार मोटे तौर पर ऐसे हिमकाल 20000 वर्ष की अवस्था में आने चाहिए।[4]

किन्तु अन्य परिवर्तनों के कारण यह चरम स्थितियाँ 15 वर्ष से 25 हजार वर्ष के बीच में झूलती रहेंगी।

एक परिवर्तन और है जिसका संबंध पृथ्वी और सूर्य से है हमें यह ज्ञात है कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर परिभ्रमण करती है सूर्य उसके केन्द्र में और पृथ्वी उसके परिभ्रमण कक्ष में। जब सूर्य ठीक केन्द्र में होता है अर्थात् सूर्य व पृथ्वी की दूरी वर्ष भर में समान रहती हे तब परिभ्रमण कक्ष वृत्ताकार होता है उस समय सूर्य और पृथ्वी की दूरी को हम आगे सूर्य और पृथ्वी की मध्यम दूरी कहेंगे। किन्तु यह स्थिति परिवर्तनशील है। सूर्य केन्द्र से खिसकता है और पृथ्वी का परिभ्रमण वृत्त से दीर्घवृत्त (Ecliptic) हो जाता है सूर्य की स्थिति को हम नाभी बोलेंगे। केन्द्र से उसकी दूरी को नाभियान्तर कहेंगे। सूर्य का यह नाभियान्तर खिसकते-खिसकते अपने चरम तक पहुँचता है तब पृथ्वी की उससे दूरी बहुत असमान हो जाती है एक स्थिति में बहुत कम व एक स्थिति में बहुत अधिक हो जाती है जो पृथ्वी पर सूर्य के पड़ने वाले प्रभाव को अति विसंगत कर देती है। फिर पुनः नाभियान्तर घटने लगता है और शून्य हो जाता है फिर यह नाभी दूसरी ओर खिसकती है और अपने चरम तक पहुँचती है और धीरे-धीरे घटकर पुनः अपनी स्थिति में आ जाती है। नाभी के इस विचरण काल के पूर्ण चक्र को लगभग 1 लाख वर्ष लगते हैं।[5]

पृथ्वी का घूमना, पृथ्वी के धूरी के झुकाव में अंतर आना तथा पृथ्वी के परिभ्रमण में नाभी का खिसकना तीनों परिवर्तन मिलकर वायुमण्डल में अति विस्मता की स्थितियाँ पैदा कर देती है जिनके कारण विशेष हिमयुगों का आवृतन होता है जैसाकि हमने पहले कहा है कि 15 वर्ष से लेकर 25000 वर्ष तक की कालावधि में यह उतार–चढ़ाव अपने अति विषम स्थिति में होंगे तब तक एक हिम काल का उदय होगा इसकी सूक्ष्मता जानने के लिए इस विषय की ओर गहराई से अध्ययन करने की आवश्यकता है ताकि हम इसकी बारीकियाँ जान सकें तथा अति युगों का हम कालांकन सही कर पायेंगे तथा यह बता पायेंगे कि अगला अति हिमकाल कब घटेगा व कैसा घटेगा।

ज्योतिर्विज्ञान के आधार पर काल गणना पर अनेकाविद् कार्य हुए हैं उनमें से सर्वप्रथम मैं चन्द्रमा के मार्ग पर आधारित कालगणना की विवेचना व व्याख्या करना चाहूंगी। यह सभी को विदित है कि क्रांतिवृत के इर्द गिर्द विशिष्ट तारा समूह बिखरे हुए हैं जिन्हें भारतीय ज्योतिर्विज्ञान विदों ने नक्षत्र नाम से संबोधित किया है यह नक्षत्र समूह 27 हैं और अभिजित् नक्षत्र को भी गिना जाये तो 28 नक्षत्रों का ज्ञान प्राचीन काल से भारतीय ज्योतिषीयों का रहा है। यह नक्षत्र क्रांतिवृत्त के उत्तर व दक्षिण की ओर फैले हुए हैं। भारत में ज्योतिष के उद्भव के साथ ही यह ज्ञान प्रकाश में आया था कि चन्द्रमा प्रत्येक दिन एक नक्षत्र के सानिध्य में रहता है तथा अगले ही दिन अगले नक्षत्र के साथ रहता है। किन्तु पुनरावृत्ति में यह अनुभव में आया कि हर बार चन्द्रमा की स्थिति नक्षत्रों के सापेक्ष ठीक वैसे की वैसी नहीं रहती है जैसा कि पूर्व चक्कर में होती है।

इस बात को डॉ. गारेख प्रसाद[6] जी बहुत अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि "चन्द्रमार्ग" हर माह तथा हर वर्ष वैसा का वैसा नहीं रहता। माना जाता कि इस माह में किसी नक्षत्र को छूता हुआ जाता है तो अगले माह उससे दूर होने लगता है और अगले माह उससे ओर अधिक दूर होने लगता है 9 वर्ष के लगभग वह

उसकी परम दूरी तय करता फिर वो दूरी घटने लगती है और घटते-घटते 18.6 वर्षों में पुनः उस नक्षत्र को छूने लगता है। उनके शब्दों में इस तथ्य को ध्यान में रखकर भारत में नक्षत्रों का आविष्कार कब हुआ इस पर TRFI[7] मुंबई के शोध संस्थान ने शोध कार्य किया जिससे सुधा भुंजल, व मयंक वाहिया ने उस पत्र को प्रकाशित किया। जिसमें आकाशीय नक्षत्रों के साथ चन्द्रमा की स्थिति का अध्ययन किया गया विशेषतः आकाशीय नक्षत्र का अध्ययन 3500 B.C. से लेकर 2005 A.D. तक दृष्टिगत रखा गया। वैज्ञानिक तौर पर यह अध्ययन किया गया कि किन-किन वर्षों में चन्द्रमार्ग इनसे ठीक ठीक मिलता था। इसके अध्ययन के लिए उन्होंने भारतीय पंचांग जो कि cwell तथा दक्षित द्वारा 1986 में प्रकाशित हुआ है कम अध्ययन करते हुए प्राचीन भारत में हजारों वर्ष पूर्व जो आकाशीय चित्रण है।[8] उसे समझने का प्रयास कया। इसके लिए वराहमिहिर का विश्लेषणात्मक अध्ययन भी किया। इस अध्ययन में उन्होंने कुछ आधार बिन्दू भी माने जिनमें प्रथम बात यह थी कि प्राचीन भारत में उन्हीं तारों का उल्लेख हो सकता है जो आंख से ठीक-ठीक दिखाई देते हों अर्थात् उनकी तीव्रता 5 मेग्नीट्यूट से ज्यादा होगी, तथा दूसरी अवधारणा यह रही कि उन तारा मण्डलों को ही ढूंढ़ा गया जो चन्द्रमा के ठीक निकट थे।[9]

उन्हें यह अनुभव आया कि चन्द्र का मार्ग सूर्य चन्द्र तथा विभिन्न ग्रह नक्षत्रों की दूरीयाँ आपस में बदलने के कारण चन्द्रमार्ग का Longitude तथा शर भी हर बार बदलता रहता है। इसके लिए उन्होंने Jean Meeus 1998 के लेख को आधार लिया है जिसमें चन्द्रमा के मार्ग का पूर्ण विवेचन हैं। जिसमें 50 वर्षों में मात्र विकला से अधिक अन्तर नहीं आता। इनकी गणना के आधार पर उन्होंने यह भी माना है कि 3500 B.C. तक की गणना करने पर चन्द्रमार्ग में एक अंश से अधिक अन्तर नहीं आयेगा साथ ही उन्होंने "स्काईमेपरो प्रोग्राम 2001" ने आकाशीय नक्शों का अंकन 4713 B.C. से लेकर 999 A.D. तक किया है यह प्रोग्राम तारों के भुजयुग्म को बताता है जिसमें पृथ्वी के अध्ययन को भी ध्यान में रखा गया है यह स्काईमेप का आधार भी Jean Meeus Astronomgical Algonthms है।[10]

उक्त आकाशीय नक्शों में चन्द्रमार्ग और नक्षत्रों का समीप्य मिलाते हुए शोधकर्ताओं (M.M. वाहिया, सुधा) ने यह निष्कर्ष निकाला है कि संभवतया 3000 B.C. के आस पास नक्षत्रों का चन्द्रमार्ग से अच्छी संगति बैठ रही हैं साथ ही उन्होंने कहा है कि प्रारम्भिक स्थिति में 9 नक्षत्रों को ही पहचाना गया था तथा 18 नक्षत्र समूहों को बाद में इसे जोड़ा गया है जो कि चन्द्रमार्ग के समीपस्थ थे। उन्होंने कहा है कि यह बात समझ में नहीं आती कि कुछ बड़े तारे जो आँख से स्पष्ट दिखाई देते हैं तथा चन्द्रमार्ग के समीप स्थित है। उन्हें नक्षत्रों के समूह में क्यों नहीं जोड़ा गया।[11]

उक्त विवेचन व विश्लेषण को देखते हुए यह बात स्पष्ट प्रतीत होती है कि चन्द्रमार्ग का नक्षत्रों के साथ सामजस्य समयानुसार बदलता है किसी समय में कुछ नक्षत्र चन्द्रमार्ग के समीप होते तथा कुछ नक्षत्र चन्द्रमार्ग से दूरी बनाये रखते हैं। चन्द्रमार्ग का नक्षत्रों से सामीप्य अथवा दूरस्थ होना पुनरावर्तित वाला है जिसकी कालावधि लगभग 18.6 वर्ष हैं। उक्त बात एक एक नक्षत्र के लिए अलग-अलग लागू होती हैं। किन्तु यह अध्ययन करके कि किसी काल में 27 से कितने नक्षत्र चन्द्रमार्ग में स्थित थे और कितने नक्षत्र चन्द्रमार्ग से परे। इसे ज्ञात करते हुए विभिन्न कालों की कालावधि ज्ञात की जा सकती हैं। और इस प्रकार की कालावधि में 300–400 वर्षों का विचलन हो सकता है।

चन्द्रमार्ग की आकाशीय स्थिति का उल्लेख हमने भी किया है। किन्तु वस्तुतः आकाशीय ज्योर्तिपुंज मनुष्य को सदैव आकर्षित करते रहे हैं। इतना ही नहीं बहुत प्रारम्भिक स्थिति का उकरे जब मनुष्य कृषि की ओर प्रवृत हुआ था। अन्न तथा विभिन्न परिस्थितियों

की उगने की कला वह सीख रहा था तब भी आकाशीय साक्ष्य उसको सहयोगी हुआ करते थे। कृषि के अलावा भी खाद्य पदार्थों की खोज में उसे आकाशीय नक्शे की आवश्यकता पड़ी। रात्रि के समय उसका शिकार किस स्थिति में बैठा होगा और कहाँ बैठा होगा इसका संबंध उसने आकाश में स्थित ज्योतिर्पुजों के द्वारा ज्ञात किया था। यह वह काल है जिसे हम 7000 से 5000 B.C. का मान सकते हैं जैसाकि अग्रवाल जी ने 1985 में कहा है। उस प्रारम्भिक स्थिति में दिन का छोटा-बड़ा होना, ऋतु परिवर्तन होना, गर्मी-सर्दी व वर्षा का होना मूलतः सूर्य की स्थिति से प्रभावित होता है यह जानकारी उनको हो गयी थी। इस कारण से प्राचीन मानव ने विश्वभर के भिन्न-भिन्न कानाड्रें में या तो प्राकृतिक शिलाखण्डो को आधार बनाकर अथवा बड़े-बड़े शिलाखण्डों को स्थापित करके उससे सूर्य की उदय होने की स्थिति को जानने का प्रयास किया। मैं यह कह सकती हूँ कि ऐसे पुरातात्विक साक्ष्य अनेकों हैं, जिनका ज्योतिर्विज्ञान से सीधा सीधा सम्बन्ध है। जो कि काल गणना के प्राचीन आधार स्तंभ है। उदाहण के तौर पर नीचे उन सभी मानचित्रों व शिलाखण्ड़ों का उल्लेख कर रही हूँ।

ज्योतिर्विज्ञान के संदर्भ में शिलालेखों का वेध विशेष महत्त्व रखता है। अलीचीन ने 1956 में 40 इस प्रकार की स्थल ढूंढे है जहाँ इस प्रकार वेधो को व्यवस्थित रूप से रखा है। जो कि उन्होंने उत्तरी कर्नाटक व हैदराबाद क्षेत्र में पाये। उनमें से अनेकों की व्यवस्था वर्गाकार रूप में हैं। कुछ शिलाखण्ड़ 14 से 16 फिट की ऊँचाई के हैं। उदाहरणतः मुरारदौढ़ी जो कि 2000 वर्गफुट में फैला हुआ है। यूरोप में लीनमेन्स इन फ्रांस का शिलावेध है। थॉम ने 1974 में इन शिलाखण्डों का महत्त्व प्रतिपादित किया था। भारत के शिलाखण्डों का पक्का परीक्षण भी उचित होगा जिसमें विशेषकर हनुमानसागर के शिलाखण्ड़ जिसे 1941 में महादेवन ने दर्शाया था और कुछ को पदैया ने सन् 1995 में उद्भाषित किया था। जिन्होंने लिखा था कि इन शिलाखण्ड़ों का क्या महत्त्व है मालूम नहीं पड़ा। ब्रह्मगिरी स्थल के शिलाखण्ड़ों का विश्लेषण के रामेश्वर राव ने अपने पत्र में किया है जिसका चित्रण इस प्रकार है।[12]

हम बता रहे थे कि जमीन के अंदर गर्भस्थल साक्ष्यों के साथ-साथ आकाशीय साक्ष्यों का भी विशेष महत्त्व रहा है क्योंकि पृथ्वी की सारी गतिविधियाँ विभिन्न प्रकार के ज्योतिर्पिंड़ों के आकर्षण विकर्षण तथा ऊर्जा के संक्रामण से हुआ करती हैं। आकाश में दिखने वाले चमकते हुए तारें तथा उनके समूह जिनको नक्षत्र कहते हैं का महत्त्व भारतीय ज्योतिर्विज्ञान तथा अन्यत्र ज्योतिर्विज्ञान पर बहत अधिक पड़ा है। विशेषकर भारत में तो आकाशीय पिण्डों सूर्य, चन्द्र तथा ग्रहों की स्थितियों को नक्षत्र तथा प्रमुख तारामण्डल के आधार पर ही वेध करने की प्रथा रही हैं। इसी के चलते यह भी भारत में अध्ययन का विषय रहा है कि पूर्व क्षितिज पर ठीक पूर्व में कौन-सा नक्षत्र उदति होता है। जैसाकि वदांग ज्योतिष में हमें यह उल्लेख मिलता है कि कृतिकाएं पूर्व में उदित होती है तथा साथ ही यह भी लिखा है कि कृतिकाएं पूर्व से हटती नहीं है। यहाँ मुझे यह बताना आवश्यक लग रहा है कि ठीक पूर्व में उदय होने का तात्पर्य है। ज्योतिषयी अवधारणा के अनुसार जिस दिन विश्वभर में दिन व रात का मान समान होता है उस दिन सूर्य के साथ अथवा सूर्यास्त की स्थिति में जो नक्षत्र हो वह ठीक पूर्व और पश्चिम में कहलाते हैं। नक्षत्र पूर्व में हो या पश्चिम में पूर्व में ही उदित कहलाता है किन्तु उक्त वेदांग की अवधारणा में थोड़े से भ्रम की स्थिति है। जिसका कारण पृथ्वी की अयन गति है। डॉ. गोरख प्रसाद जी अनुसार कोई भी नक्षत्र हमेशा पूर्व में उदित नहीं होता। यदि कोई नक्षत्र पूर्व में उदति होता तो कुछ समय बाद वह वहाँ से हटने लगता है लगभग 6500 वर्षो तक वह पूर्व से हटते-हटते (उत्तर–दक्षिण) पूर्व से अधिक दूर पर हो जाता है तथा फिर वो पर्व की ओर होने लग जाता है और लगभग 13000 वर्ष बाद पुनः

पूर्व में उदित होने लगता है अर्थात् यदि कोई नक्षत्र पूर्व में उदित होता है तब समयानुसार वहाँ से खिसकने लगता है। खिसकते-खिसकते पुनः वहाँ आने में 13000 वर्ष लगते हैं।[13]

भारतीय ज्योतिष ग्रंथों में तथा वास्तुग्रंथों में बहुत बड़ी कालावधि तक इस अयन गति का सुधार नहीं किया तथा उसके आधार पर दिशा का निर्देशन करते गयें। इस कारण से जो वास्तुविदों ने दिशा बनायी वह ठीक पूर्व अथवा पश्चिम नहीं रह पायी। वास्तविक पूर्व पश्चिम से उसके विचलन को ज्ञात करते हुए तथा अयन गति के अनुसार स्थिति को ज्ञात करते हुए उस काल का निर्धारण किया जा सकता है जिस काल में उस वास्तु का निर्माण हुआ था।[14] इसका विस्तार से विश्लेषण में पुरातात्विक तथा ज्योतिषीय साक्ष्यों के आधार पर काल गणना में किया जायेगा।

साहित्य में भी जहाँ ठीक पूर्व की दिशा के लिए नक्षत्रों को लिया गया है उसके आधार पर उसकी काल गणना की जा सकती है, क्योंकि ज्योतिर्विज्ञान के आधार पर यह ज्ञात करना किस काल में ठीक पूर्व में कौन सा नक्षत्र उदित हो रहा था ज्ञात किया जा सकता है यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य रहेगी कि साहित्य में भी बिना वेध के आधार पर पूर्वोक्त शास्त्र का अनुशरण करते हुए यदि इसे लिखा गया है तो काल का ठीक निर्धारण नहीं होगा। ऐसी स्थिति में अन्य किसी शास्त्र में जब पूर्व उदित नक्षत्र में भेद दिखाई देगा तब उसके तुलनात्मक अध्ययन द्वारा उसकी कालावधि ज्ञात की जा सकती है अथवा ऐसी स्थिति में अन्य ज्योतिषयी साक्ष्यों को भी ढूंढ़ना पड़ेगा जिसके आधार पर उस कृति की कालगणना सूक्ष्म रूप से ठीक-ठीक ज्ञात की जा सकती है।

अब मैं ब्रह्माण्ड के उन साक्ष्यों की ओर एक नज़र डाल रही हूँ जो इसके उद्‌भव, विकास व विनाश की स्थिति को समझा जा सकेंगे। सापेक्षवाद के सिद्धान्त की ओर इसके साथ ही यह प्रमाणित हो गया था कि सारा का सारा ब्रह्माण्ड बिल्कुल संकुचित स्थिति में रहा होगा और अब यह फूल–फैल रहा है और फैलता ही जायेगा। फैलने की यह प्रक्रिया एक स्थिति में आकर रूक जायेगी और फिर वापस संकुचन प्रारंभ हो जायेगा। इस सिद्धान्त के आधार पर विश्व की आयु कुछ अरब वर्ष (लगभग 10 लाख वर्ष) मानी जा सकती है। आज तक के संचित ज्ञान के आधार पर यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि सूर्य तारे, पृथ्वी व अन्य ग्रहों की आयु कुछ अरब वर्षों से अधिक नहीं हैं।

तारों की आयु[15]

जहाँ तक आकाशीय साक्ष्यों की बात कर रहे हैं तो हमें यहाँ यह जानना भी अपरिहार्य लगता है कि तारें सदैव आकाश में बने रहते हैं अथवा इनका भी उद्‌भव व विनाश होता है। यह तथ्य स्पष्ट हो चुका हैं कि तारों का उद्‌भव होता है व विनाश भी होता है।

'Supernova' (सुपरनोवा) किसी तारे के लोप होने के पूर्व की स्थिति है। जब उसकी ऊर्जा समाप्त हाने पर होती है, उस समय उसका भभके के साथ विस्फोट होता है, जो अत्यन्त चमकदार पिण्ड की तरह दिखाई देता है उसकी चमक तारे के आकार प्रकार तथा सूर्य मण्डल से उसकी दूरी पर निर्भर करती है। अत्यन्त दूर होने के उपरान्त भी यह भव्य चमकीले पिण्ड की तरह दिखाई देता है इनकी चमक कभी कुछ समय तक ही तो कभी अधिक समय तक भी दिखाई देती है। इस विनाशात्मक स्थिति के बाद वे टूट-टूट कर बिखर जाते हैं, सफेद बौने तारे के रूप में अथवा ब्लेक होल बनकर अंधकारमय हो जाते हैं। विलुप्त होने की स्थिति खुली आँख न देखकर किसी यंत्र के माध्यम से देखें तो सही रहेगा।

विनाश की स्थिति में तारे में "Burning" की प्रक्रिया एक प्रकार का न्यूक्लियर फूलन होता है जिसमें पहले हीलियम, फिर कार्बन तथा बाद में भारी तत्व जलते हैं, इस प्रक्रिया के अन्त में लौह तत्व शेष रह जाता है जो Fusion के सहारे "Burn" नहीं हो पाता। ताकि और ऊर्जा प्रदान कर सके। इस प्रकार

के विस्फोट के समय ऊर्जा का विकिरण पहले X-Ray range में तथा Ultra Violet तथा Radio radiation के रूप में होता है इन सभी विकासेज ऊर्जाओं का Spectrum ज्योतिर्विज्ञान के विद्यार्थियों के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है।

भारत के भौतिकी शास्त्री सुब्रह्मण्यम चन्द्रशेखर[16] ने इस पर काम किया जिसका उल्लेख हम आगे करते हुए आये हैं उनके अनुसार Suer-giant Super Star का नाभिक न्यूक्लियर ईधन विखण्डित होने लगता है और इसकी अत्यधिक ऊर्जा से केन्द्र के धन आवेशित प्रोटोन व ऋण आवेशित इलेक्ट्रान आपस में नष्ट होने लगते हैं तथा वे आवेशित न्यूट्रोन्स को बनाते हैं और यह न्यूट्रोस स्टार कहलाता है।

इस प्रकार के तारे से काल गणना की जा सकती है। इनके रिकार्डस आज के समय में उपलब्ध है तथा इनका जिक्र साहित्य व अन्य साक्ष्यों में भी मिलता है जो उस समय से भी प्राचीनतम काल का होता है व परम्परा व कथाओं के रूप में इनमें आता है जिससे इनकी जाँच की जा सकती है। हमारी भारतीय सभ्यता में सुपरनोवा का जिक्र 2500–3000 ईस्वी पूर्व का आता है इस पर प्रो. आर. एन. लेचर ने काम किया है और महाभारत ग्रंथ में लोहित प्रकाशवान तारे के रूप में भी वर्णन आता है इस प्रकार यह तारे भी कालगणना में सहायक बन सकते हैं।

सूर्य जो पृथ्वी को ऊर्जा देने वाला सबसे बड़ा स्रोत है तथा नियमित रूप से ऊर्जा का सम्प्रेषण पृथ्वी की ओर पड़ता रहता है। साधारणतया हम मान बैठते हैं कि सूर्य हर समय एक ही ऊर्जा वितरित करता रहता है किन्तु वस्तुतः इस प्रकार नहीं हैं। यह हमेशा एक जैसा ही दिखता है अथवा बिल्कुल स्थिर सा रह कर पृथ्वी के सम्मुख एक सा दिखाई दे पड़ता है ऐसा भी नहीं हैं। हम देखेंगे कि सूर्य उत्पात व विक्षोभों का अनंत भण्डार है। रॉयल ओब्जर्वेटरी ग्रीनवीच जो कि सतत सूर्य के फोटो लेती रहती है। उन्होंने सूर्य के धब्बों (Sun Spots) का उल्लेख कया हैं। उससे यह बात स्पष्ट है तथा साथ ही साथ इन धब्बों की प्रकृति इस प्रकार है कि इसका मुख्य भाग घना गहरा (रबड़े के रूप में) दिखाई देता है तथा इसके दई-गिर्द शिलाएँ निकली हुई होती है जो उस छाया की तरह होती है। दूसरी बात यह हमेशा स्थिर नहीं हैं। सूर्य की सतह पर यह घूमते रहते हैं इस कारण किसी समय हमारे सम्मुख कमजोर धब्बे होते हैं तो किसी समय यह अधिक तीव्र होते हैं। रिकार्ड यह बताते हैं एक तीव्र धब्बे हो हैं तो किसी समय यह अधिक तीव्र होते हैं। रिकार्ड यह बताते हैं कि तीव्र धब्बे होते हैं तो किसी समय यह अधिक तीव्र होते हैं। रिकार्ड यह बताते हैं कि तीव्र धब्बे से दूसरे तीव्र धब्बे के बीच में औसतन 11–12 वर्ष लगते हैं। किन्तु यह कम से कम 8 वर्ष तथा अधिक से अधिक 17 वर्ष में पुनरावृत्ति हुए है। इनकी पुनरावृत्ति का अध्ययन करते हुए वैज्ञानिक बहुत निश्चित मत पर नहीं पहुँच पाये हैं किन्तु इनकी भविष्यवाणियाँ काफी कुछ पुष्ट होती हुई दिखाई देती है।[17]

सूर्य में जो यह धब्बे दिखाई देते हैं इनका स्प्रेक्ट्रम तथा सूर्य की अन्य स्थान का स्प्रेक्ट्रम भिन्नता लिए हुए है जिससे पहली बात स्पष्ट दिखाई देती है कि धब्बे वाले स्थानों पर तापमान शेष भाग के स्पेक्ट्रम वे मन्द दिखाई देते हैं जो कि टिटेनियम ऑक्साइड तथा मैग्नीशियम हाईराईट के माध्यम में उत्पन्न प्रकाश में दिखाई देते हैं। इससे यह बात स्पष्ट होती है कि Sun Spots के भाग में मौलिक कणों का संघनन प्रारम्भ हो गया हैं। जो कि कम तापमान पर स्थिर है। अधिक तापमान पर यह धातुविक अणु विखंडित होकर पुनः हाइड्रोजन हेलियम में परिवर्तित हो जाते हैं। सूर्य के धब्बे तथा शेष भाग सूर्य का अध्ययन करते हुए उनमें काफी भिन्नताएँ ज्ञात होती है कई बातें शेष सूर्य में अधिक होती है तो कुछ ऊर्जाएँ Sun Spot के क्षेत्र में होती है विशेषकर चुम्बकीय क्षेत्र इसमें प्रभावी रहता है सबसे पहले लोरेन्स (Lorintz) ने Sun Spot का अध्ययन करते हुए निष्कर्ष निकाला कि चुम्बकीय क्षेत्र

की बल रेखाएँ सतह के लम्बवत् (सूर्य के धब्बे के केन्द्र) होती है तथा उसके किनारे सतह के समानान्तर होकर बाहर हो जाती है।

इस चुम्बकीय क्षोभ का पृथ्वी पर उत्पन्न चुम्बकीय बवंडरों के क्रमों में सीधा सम्बन्ध हैं, सर्वप्रथम मोन्डर (Maunder) ने 1875 तथा 1903 सन् में विषल 19 विक्षोभों का परीक्षण करते हुए यह बताया कि इनकी अचानक उत्पत्ति के समय सूर्य के मध्यभाग में हर बार एक विशाल Sun Spots देखा गया है अर्थात् जब-जब पृथ्वी पर चुंबकीय उत्पात हुआ है तब तब उसमें सूर्य के मध्य में बड़े धब्बे रहे हैं इनकी पुनरावृत्ति भी 27.3 दिनों में देखी गई है जो कि यह माना जाता है कि सूर्य का सापेक्ष परिभ्रमण काल हैं और चुंबकीय विक्षोभ के कारण पृथ्वी के आइनोस्फेयर में विद्युत घनत्व भी बढ़ जाता है और यही कारण है कि हमारे वायु मण्डल में उत्तेजित कार्बन यानि C^{14} की मात्रा बढ़ जाती है। जिसका प्रभाव सीधा–सीधा पृथ्वी के वायुमण्डल पर पड़ता है प्रोफेसर बसंत कुमार शिंदे, वसवनजील तथा योशिनोरी यशुदा ने अपने पत्र में इसे "सोलर फोर्सिंग" (Solar Forcing) कहा हैं।[18]

उन्होंने अपने पत्र में यह उल्लेख किया है कि कार्बन की मात्रा वायुमण्डल में बढ़ने के कारण कठिबन्धन क्षेत्रों में Wet-dry परिवर्तन हुए हैं। जो कि लगभग 850 से तथा 760 ईसा पूर्व में चिन्हित किये गये जिसका प्रभाव भारत तथा अफ्रिका प्रदेश के मध्य भागों में पड़ा। वे लिखते हैं कि इसका कारण सोलर एक्टिवीटी में अचानक गिरावट आने से हुआ। अनेक उदाहरण देते हुए तथा पुरातात्विक साक्ष्यों को प्रदर्शित करते हुए उन्होंने अपने लेख में विभिन्न कालों की आद्रर्ता तथा सुखापन प्रदर्शित करते हुए इसका संबंध सीधा सौर ऊर्जा से बताया है।

सूर्य के उत्पात तथा Sun Spot (धब्बे) एक बहुत साक्ष्य के रूप में हमारे सामने प्रतिष्ठित है जो कि उत्तेजित कार्बन (C^{14}) के लिए मूल स्रोत है कालावधि अंकन में बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए हैं।[19]

अन्य कई खगोलिय तत्व है जिनके आधार या तो भौगोलिक स्थिति का ज्ञान होना संभव होता है या किसी न किसी काल का अंकन हो जाता है संक्षेप में उनकी सूची व विवरण यहाँ दे रही हूँ।[20]

(i) दिन, मास ऋतु का वर्णन सभी में करें।

(ii) प्रकृति सरल नहीं जैसा कि वह दिखती है जैसा कि चन्द्रमा का ठीक 29 दिन का नही है और वर्ष भी ठीक 12 महीनें का नहीं है इसी से समय की गणना में त्रुटियाँ प्रारम्भ हो गई यही काल निर्धारण का मोटा आधार बन गया। यह पुरात्त्व के काल निर्धारण में प्रमुख आधार बन गये।

(iii) राशि व नक्षत्र

(a) कांतिवृत से $5^0 9'$ चन्द्रमा अधिक झुका हुआ है।

(iv) विशेष चक्र काल –

(a) सूर्य चन्द्र तारे ग्रह कोई भी स्थिर नहीं है

(b) इनकी विभिन्न गतियों का पुरात्त्व में सार्थक उपयोग किया गया है जो इस प्रकार है –

- पृथ्वी : पृथ्वी स्वयं ऐसा ओब्जेक्ट (वस्तु) है जो इतनी परिवर्तनशील है जो इसके परिवर्तन पुरात्तव काल निर्धारण में महत्त्वपूर्ण हैं।
- भूकम्प : अचानक होते हैं, निकटवृति गड़बड़ियाँ के कारण इसके द्वारा बने हुई परतों की ऊपरी सतह का विशेष अध्ययन करने हमें काफी प्रकार की सूचनाएं प्राप्त होती है और उन गड़बड़ियों का ज्ञान होता है जिनके कारण यह होते हैं और उसी के आधार पर इसका सामान्यकरण किया जाता है उदाहरण हिमालय व उसके आस पास की घाटियां हैं जिनका प्रयोग प्रभावशाली तरीके से किया गया है।
- नदियों के मार्ग परिवर्तन : सरस्वती व नील नदी इसके प्रत्यक्ष उदाहरण है।
- चुम्बकीय क्षेत्र में बदलाव : दोनों ध्रुवों की स्थितियाँ स्पष्ट नहीं है वरण उनका ढांचा क्लिष्ट और बहुआयामी (मल्टीपल) उत्तरी ध्रुव व

दक्षिणी ध्रुव का संश्लिष्ट हैं। लौह युग का आरम्भ हुआ होगा अनुमान लगता है

- पृथ्वी का झूमना
- सूर्य – (1) दिन रात, 365 दिन के वर्ष, उत्तरायण, दक्षिणायन पृथ्वी के भ्रमण के कारण सूर्य के नक्षत्र बदलना ऋतु में (2) केन्द्रच्युति, (3) पृथ्वी में धुरी का झुकाव, (4) सूर्य का एक 11 वर्षीय चक्र ओर है जिसे हम सक्रियता का चक्र कर सकते हैं इस चक्र में कई प्रकार के ऊर्जा के कण सूर्य पृथ्वी पर फेंकता है जो कि पृथ्वी के तत्वों से टकराते हैं तथा सक्रिय कार्बन की उत्पत्ति करते हैं (रेडियो एक्टिविटी आइसोटोप तदरूप) जो कि अपनी अर्ध आयु 5600 वर्ष में पूरी करता है इसलिए साधारण C^{12} तथा तद्रूप C^{14} के अनुपात के आधार पर आयु का निर्धारण किया जाता है यह एक प्रभावशाली साधन है जिसे कार्बन डेटिंग कहा जाता है वास्तव में यह 11 साल का चक्र स्थिर नहीं है किन्तु इन 11 सालों के चक्रों में विभिन्न (ऊर्जा) तीव्रता होती है। इस विषय को ओर रोचकता के लिए सूर्य स्पष्ट रूप से 200 वर्ष का चक्र इन 11 वर्षों के चक्रों में रखता है।
- चन्द्रमा : पक्ष, पूर्णिमा, मास, ज्वार भाटा, चन्द्र सूर्य ग्रहण, भारतीय ज्योतिष गणना का विशेष महत्त्व।
- ग्रहः विभिन्न गतियाँ, चक्र परिभ्रमण, वक्री ग्रह के वलय मनुष्य के जन्म में चन्द्रमा का महत्त्व है (मन) यह महत्त्वपूर्ण है। नोटः चन्द्रमा नहीं होता तो पृथ्वी की गति बड़ी विचित्र व सनक मिजाजी उटपटांग होती जिसमें बुद्धिमान जीव की उत्पति संभव नहीं थी। चन्द्रमा मन का कारक।
- आकाशीय नक्षत्र और तारा समूहः अस्थिर, कई लुप्त व प्रकट होते हैं इसके आधार पर भी काल गणना की जाती है तारों से स्थान के अक्षांस का भी पता चलता है जहाँ जिन तारों का उल्लेख मिलता है उसके आधार पर ज्ञात होता है कि वह स्थान किस अक्षांस पर था। कई स्थानों कई प्रकार के तारे उदित होते ही नहीं है तो तारों के वर्णन से सभी स्थान की स्थिति का वर्णन मिलता है पृथ्वी के झूमने के कारण सूर्य के उदित होने के साथ तारों की स्थिति बदलती है इसके आधार पर काल गणना की जा सकती है।
- तारों का विस्फोट और धुमकेतु व पुच्छल तारेः इनके कारण C^{14}को यहाँ प्रभावित करता है
- (v) अर्कियोएस्ट्रोनोमी के विधि विधान –
- (a) सभ्यता व संस्कृति ज्योतिषीय अंकन व विक्षण मिल जाता है इसलिए विभिन्न प्रकार की गतियों और ज्योतिर्विज्ञान की सूचना के आधार पर इसे काल गणना की जा सकती है।
- श्लोको की भाव व्याख्या
- वास्तु : बहुत से प्रमुख तथा सुक्ष्म (मेजर व माइनर) (मूसीमेन्ट) ऐतिहासिक प्राचीन धरोहरों को सूर्य की संग्राहितयता के आधार पर बनाया गया है। सूर्य माग्र तिाा (सन्सेटिव) चन्द्र को ध्यान में रखकर बनाया गया। स्टोनऐज एण्ड यू.के् के प्रमुख पिरामिड मिश्र व मेक्सिको के पीरामिड तथा हमारे सूर्य मंदिर विशेष उदाहरण प्राचीन वास्तु के है जिनमें ज्योतिष की सुग्रहियता का ज्ञान हैं। वेदियों की रचना में भी आकाशीय स्थितियों का प्रभावी उपस्थिति मिलती जिनके आधार पर काल निर्णय किया जा सकता है।
- कुण्डली मेलापक : फलित ज्योतिष
- नक्षत्र मण्डलों का आकार : इन मण्डलों में आकृति में परिवर्तन होता है इकनी दूरियाँ बहुत ज्यादा है इनकी स्थितियाँ हर काल में वैसी ही हो ऐसा नहीं हैं जो अभी है वैसा प्राचीन में हो ऐसा नहीं हो सकता है। कोई नक्षत्र तारा मण्डल में से हट सकता है कोई जुड़ सकता कोई लुप्त हो सकता है।
- ध्रुव तारे की स्थिति भी समय के अनुसार बदलती है जो काल निर्धारण में काम आती है।

- भाषा, लोकोक्तियाँ, रीति-रिवाज, अधिकमास आदि।
- धार्मिक रिवाज मान्यता (मेथोलोजी)
- भौगोलिक व भूगर्भीय परिवर्तन : भूगर्भीय परिवर्तन में कई बार अंध विश्वासी घटना भी जुड़ी उसे आज सही करके जांचा जा सकता है।
- पुनः गणना प्राचीन तथ्यों की : विभिन्न कैलेण्डरों तथा गलत आधारों पर गणना की गई थी उसे सुधारा जा सकता है।
- वर्तमान स्थिति – टेलिस्कोप, रेडियो टेली, रेड़ियो एक्टिविटी, नक्षत्र गणना, (नासा), यूरेनियम, कार्बन।
- काल गणना में खगोल विज्ञान पर इस प्रकार उपयोगी सिद्ध हो सकता है इसका दिशा निर्देश यहाँ किया गया है।

संदर्भ

1. Kislov, A.V. "Astronomical forcing and mathematical theory of glacial-interglacial cycles", Mascow State University, Mascow, Russia. ।2. वही । 3. वही । 4. The astronomic theory of climatic changes of Milutin Milankovich । 5. वही । 6. वही । 7. प्रसाद, गारेख, "भारतीय ज्योतिष का इतिहास", पृष्ठ 23 । 8. वही पृष्ठ 24, 25 । 9. वही पृष्ठ 26, 27 । 10. वही पृष्ठ 28 । 11. Possible period of the design of Nakstras by Sudha Bhujle and M.N. Vahia, TIFR. Mumbai. । 12. वही । 13. वही । 14. Kameswara N Rao, (2005), "Aspects of prehistoric astronomy in India" Indian Institute of Astrophysics, Bangalore, India. । 15. प्रसाद, गोरख, "भारतीय ज्योतिष का इतिहास" पृष्ठ 49–55 । 16. वही पृष्ठ 57, 58, 59 । 17. वही पृष्ठ 61, 62, 64 । 18. पृथ्वी की आयु महाराज नारायण मेहरोत्रा हिन्दी समिति सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश 1962 पृष्ठ 221–235 । 19. वही पृष्ठ 238, 239, 242 । 20. सुपरनोवा – शोध पत्र (TIFR) । 21. In search of Indian records of Supernova. । 22. लेखक Hrishikesh Joglekar, Aniket Sule, M.N. Vahia. । 23. Monsoon and Cilvilization – Edited by Yoshinoi Yasuda, Vasant Shinde Decan College, Lustre Press Roli Books 2004 Chapter 17 Solar Forcing of Climate Change and Monsoon related Cultural shift in Western India around 800 cal. Yrs. b.C. by Bas van Geet. Vasant Shinde and Yoshinori yasuda । 24. General Astronomy – by Sir Harold Spencer Jones, London – Edward Asnold (Publishers) Ltd. page 145 । 25. टाटा इंस्टिट्यूट ऑफ फेटामेंटल रिसर्च, मुम्बई, (TIFR) डॉ. मयंक वहिया के शोध पत्र। 26. कालनिर्णय – प्राचीन भारत रविचन्द्रर शोध पत्र।

अभिजित् शोध संस्थान (सचिव)
5, मेहतो का चौक, धानमण्डी उदयपुर (राज.)
313001 मो. 02942423960, 9460030605
ईमेल alaknanda_shrma@yahoo.com

गायत्री मंत्र

देवी भागवत के अनुसार वैदिक गायत्री मंत्र सर्वोच्च मंत्र है।

गायत्री मंत्र का जप करने से पूर्व शताक्षरी (100 अक्षर वाले) मंत्र का एक बार पाठ करना उचित बताया है, इसमें गायत्री मंत्र (24 अक्षर), त्रयम्बक मंत्र (32 अक्षर) एवं जटावेदा मंत्र (44 अक्षर) समाहित हैं। सामान्यतः एक सूक्त मंत्र का एक ऋषि एवं एक देवता होता है। गायत्री मंत्र के 24 अक्षरों के 24 ऋषि एवं 24 देवता (अग्नि, अश्विनी कुमार के। इसमें 24 शक्तियाँ (वामदेवी-त्रिपदा), 24 वर्ण (रंग), 24 तत्व (5 पंचभूत, 5 उनके गुण, 5 कर्मेन्द्रियां, 5 ज्ञानन्द्रियां, 4 मुख्य प्राण (49 में से) एवं 24 मुद्रा का भी समावेश है।

संदर्भ : Bhavans Journal

भारत की अभिवादन संस्कृति

डॉ. विष्णु चन्द्र पाठक

अभिवादन हमारे भारत के सांस्कृतिक शिष्टाचार का कैसा अनूठा आत्मीय उपचार है, जिसके सामने भाषा, रीति रिवाज का समस्त वैषम्य चूर-चूर हो जाता है। यही कारण है कि राजस्थान के सरल मरूस्थलवासी, केरल या आसाम की भाषा, रीति रिवाज तथा सामाजिक तौर–तरीकों से निपट अनभिज्ञ होते हुए भी प्रणत भाव से किसी भी अनजाने व्यक्ति से परिचय की शुरुआत कर प्रगाढ़ आत्मीयता के बंधन में बंध सकते हैं। इसलिए यह कहना समीचीन है कि अभिवादन हमारी संस्कृति का ऐसा विलक्षण उपक्रम है, जिससे व्यक्ति, व्यक्ति से जुड़कर स्नेह के बंधन में बंधता है और सौहार्द के संसार में प्रवेश कर आत्मीयता के आनन्द में डुबकी लगता है। साथ ही अभिवादन संस्कृति द्वारा हम समाज के उस व्यक्ति के प्रति श्रद्धा, आदर एवं प्रेम प्रकट करते हैं, जिनके मार्ग दर्शन तथा कठोर प्रयासों से संसार के बीच शिष्ट बनकर संघर्ष के तप्त तेज पर तपने के लिए तैयार होकर कीर्ति के विराट द्वारों की ओर बढ़ने का प्रयास करते हैं। कृतज्ञता का महनीय गुण प्रणाम कर्त्ता के मन में सहज पैदा होकर उसे विनयशील बनाता है। इसलिए आप देश के किसी भी कोने में चले जाइए वहाँ आप को परस्पर आत्मीयता की भावात्मक एकता में बाँधने वाली हमारे देश की महान अभिवादन संस्कृति के दर्शन अवश्य हो जायेंगे। कहीं प्रणाम से लोग अपनी बातचीत का सिलसिला शुरु कर रहे हैं, कहीं राम-राम साहब की गूँज है तो कहीं जै रामजी या जय सियाराम द्वारा लोग परस्पर स्नेह बाँट रहे हैं तो कहीं ढोक, डण्डोत, पांय लागू के स्वर वातावरण को मधुर बनाये हुए हैं तो कही जुहार सा, वाहेगुरू जी का खालसा, अदाब अर्जे द्वारा परस्पर व्यष्टि से समष्टि बनने का प्रयार कर रहे हैं तो कहीं श्री राधे, जय श्री कृष्ण जैसे आराध्य स्मरण का मिलन का माध्यम बनाये हुए हैं तो कही जन जीवन को रस पूरित करने वाली जय जमुना मैया, की जय नर्बदे, जय गंगा जैसे शब्दों द्वारा अनन्तकाल से बहने वाली नदियों के स्मरण से एक दूसरे का सम्मान कर रहे हैं। जय हिन्द, वन्देमातरम् जैसे प्रणाम सूचक शब्दों ने खण्ड-खण्ड विभाजित भारत को अखण्ड बनाकर आजादी की लड़ाई में जो दिव्य तेज प्रदान किया है, उसी के कारण हम आज स्वतंत्र देश के स्वतंत्र निवासी हैं। सुभाष बोस ने 'जयहिन्द' प्रणाम वाचक शब्द से आजादी की लड़ाई में जो तीव्रता दी है, उसे कौन नहीं जानता। प्राचीन भारतवासी विनय को व्यक्ति के चरित्र का सबसे बड़ा कारण मानते थे। हमारी संस्कृति के सर्वप्रिय मेधावी व्याख्याकार महाकवि

कालिदास (रघुवंश–11/8) इसीलिए विनय को राजा से लेकर रंक तक सबसे बड़ा भूषण कहा है। यही कारण है कि प्राचीनकाल में प्रणामकर्त्ता के साथ–साथ प्रणम्य का भी सर्वप्रिय कर्त्तव्य माना जाता था, कि वह प्रणत की विनयशीलता का आदर करते हुए उसे भरपूर आशीर्वाद से कृत-कृत्य करे। यदि प्रणम्य (जिसे प्रणाम किया है) प्रणत (प्रणाम करने बाला) को आशीष देने में कृपणता दिखलाता था तो उसे मलेच्छ या शूद्र के समान माना जाता था। आप जरा विचार करिये हमारे देश की महान संस्कृति पर, जिसमें पद, प्रतिष्ठा के साथ–साथ हमारे देश के पुरोधा ऋषि-मुनियों ने प्रत्येक अभिवादन को महत्वपूर्ण मानते हुए इस पर विस्तार से गहन विचार कर मार्गदर्शन तय किए हैं।

ईसा से पाँच शताब्दी पूर्व प्रवीण 'आपस्तम्बधर्मसूत्र' (1–2–16–32) के अनुसार प्राचीन काल में हमारे देश में अभिवादन के मुख्य रूप से तीन प्रकार चलन में थे, जिसका समर्थन परवर्ती धर्मशास्त्र के समस्त ग्रंथ करते हैं। इन्हें उपसंग्रह, अभिवादन तथा नमस्कार नाम से जाना जाता था। उपसंग्रह में अपने नाम एवं गोत्र का उच्चारण कर 'मैं प्रणाम करता हूँ', बोला जाता था। उच्चारण के पश्चात् अपने कानों को हाथों से छूकर प्रणम्य के चरणो का स्पर्श करने का रिवाज था। आज भी बहुत से लोग चरण स्पर्श से पूर्व हाथों से कान का स्पर्श करते हैं, जो उपसंग्रह प्रणाम की उपस्थिति का प्रमाण है। अभिवादन में चरणस्पर्श नहीं किया जाता था। परन्तु प्रणम्य के सामने आसन से खड़ा होना जरूरी था, जिसे 'प्रत्युत्थान' कहा जाता था। नमस्कार में हाथ जोड़कर सिर झुकाया जाता था। (मनु स्मृति–2/71–72) नमः उच्चारण के साथ ही सिर झुक जाता था। वैशिष्ट्य के आधार पर गुरुकुलों तथा पारिवारिक जीवन में तीन प्रकार के प्रणाम जीवन में स्थापित थे जिन्हें नित्य, नैमित्तिक एवं काम्य नामों से अभिहित किया जाता था। (धर्मशास्त्र का इतिहास भाग-1 पृ. 236) प्रतिदिन के लिए अनिवार्य प्रणाम नित्य कहलाता था, जिसे 'आपस्तधर्मसूत्र' (1–2–5/13) ने विद्यार्थियों के लिए जरूरी बताते हुए कहा है कि प्रतिदिन शिक्षार्थी को रात्रि के अन्तिम पहर में उठना चाहिए और गुरू के सन्निकट खड़े होकर नाम लेकर कहना चाहिए–'यह मैं प्रणाम करता हूँ।' काम्य प्रणाम किसी विशिष्ट कार्य की सिद्धी के लिए किया जाता था। आज भी परीक्षा देने जाने से पूर्व अथवा किसी विशेष अभियान की मंगलमय परिणिती के लिए श्रद्धास्पद लोगों को प्रणाम करने की परम्परा हमारे घरों में जीवित है, जो प्राचीन भारत के काम्य प्रणाम का ही जीवन्त रूप है। याज्ञवल्क ऋषि घर पर पधारे अतिथि को किए जाने वाले प्रणाम को भी काम्य प्रणाम के अन्तर्गत ही गिनते हैं। नैमित्तिक प्रणाम कभी-कभी किया जाता था। जैसे किसी लम्बी यात्रा पर जाने या लम्बी आयु की कामना अथवा अन्य किसी मंगलमय प्रयोजन के पश्चात् गुरूजनों या परिवार जनों को किये जाने वाला प्रणाम नैमित्तिक कहलाता था।

'पद्मपुराण' (स्वर्गखण्ड–पृ. 381 ग्री०प्रेस) तथा 'संस्कार प्रकाश' में आये उल्लेखों से ज्ञात होता है कि पुराने समय में ब्राह्मण अपनी दाहिनी भुजाकान की सीध में फैला कर भद्र पुरूषों को 'स्वस्ति' उच्चारण कर अभिवादन किया करते थे। दोनों हाथ जोड़कर छत्रिय को छाती तक, वैश्य को कमर तक तथा शूद्र को पैर फैलाकर अभिवादन किया जाता था। 'हर्ष चरित' में बाणभट्ट तथा सम्राट हर्ष के प्रथम परिचय के अवसर पर बाण अपनी दाहिनी भुजा उठाकर 'स्वस्ति' उच्चारण के साथ उसे प्रणाम करते हैं। (हर्ष चरित्र पृ. 160)

पूरे भारत में समाज के प्रत्येक तबके में अष्टांग और पंचाग प्रणाम करने का आम रिवाज था, जिसका नारद पुराण (पूर्वभाग–तृतीयपाद पृ. 363 ग्री प्रेस) में विस्तार से वर्णन मिलता है। धर्मशास्त्रों में, 'उरसा शिरसा दृष्टा मनसा पदम्यां करामयां जनुम्यां प्राणामोऽष्टांग उच्यते' द्वारा स्पष्ट किया गया है कि

छाती, मस्तक, नेत्र, मन, वचन, पैर, जंघा और हाथ इन आठ अंगों से प्रणत होना अष्टांग प्रणाम कहा जाता था। इसी प्रकार दोनों बाहुओं से, घुटनों से छाती और मस्तक से जो प्रणाम किया जाता है, उसे पंचांग प्रणाम कहते हैं। अष्टांग प्रणाम साष्टांग दण्डवत होता है, किन्तु पंचांग प्रणाम में घुटनों को मोड़कर हाथों की अंजलि को आगे रखकर सिरे छूते हैं। 'नारदपुराण' की सलाह है कि अपने आराध्य या देवताओं की पूजा के लिए अष्टांग या पंचांग प्रणाम करना चाहिए। (वही पृ. 363) आज भी हमारे जन-जीवन में अष्टांग प्रणाम इतना रचा–बसा है कि चाहते हुए भी उससे मुक्त नहीं हुआ जा सकता। भक्ति और श्रद्धा में डूबे सैंकड़ो व्यक्तियों को एक साथ गुरू पूर्णिमा के अवसर पर ब्रजभूमि के गिरिराज पर्वत के चारों ओर का मार्ग तय करते हैं। शरीर के आठों अंगों का ब्रज रज से स्पर्श होता है जो दण्डोती नाम से जाना जाता है। घुटनों को मोड़कर सिर झुकायें हाथों की अंजली फैलाये अनेक लोग आज भी देवालयों में मिल जाते हैं जो प्राचीन भारत के पंचांग प्रणाम को प्राणमय बनाए हुए हैं। प्राचीन भारत में इन दोनों प्रणामों का पर्याप्त प्रचलन था। प्राचीन भारत के धर्म शास्त्रों-पुराणों में इन दोनों प्रणामों को केवल देवों या इष्टदेव के सामने ही करने की सलाह दी गई है। परन्तु गुप्तकाल में जब राजा को ईश्वर का अंश माना जाने लगा तो ये दोनों प्रणाम चक्रवर्ती सम्राटों को भी किए जाने लगे। इसीलिए उत्तर गुप्त कालीन ग्रंथ 'हर्ष चरित' (हर्ष चरित–7/444) में दिग्विजय को निकले सम्राट हर्ष के सामने प्राग्ज्योतिषेश्वर का हँसवेग नामक दूत मिलने से पूर्व पंचांग प्रणाम करता हुआ दिखाया गया है। इसे प्रमाणित होता है कि गुप्तकाल में देश में चक्रवर्ती सम्राटों को श्रद्धालु प्रीति पुरूष मिलने पर अभिवादन रूप में पंचांग प्रणाम किया करते थे।

शैक्षणिक, सामाजिक, पारिवारिक अभिवादनों के अतिरिक्त प्राचीन भारत के राजनैतिक संसार के अभिवादन के अलग-अलग शिष्टाचार थे। हर्षचरित, कादम्बरी, रंघुवंश, मृच्छकटिक जैसे प्राचीन साहित्यिक ग्रंथों में आये प्रसंगों से राजदरबारों के प्रणाम विषयक तौर–तरीकों की सही झाँकी मिलती है। पुरायानि गुप्तकाल के राजाओं का परस्पर अभिवादन का सब से सरल प्रणत भाव था सिर झुकाकर दोनों हाथ जोड़कर प्रणाम करना। 'हर्षचरित' (6/404) में बराबरी के भाव वाले राजाओं के परस्पर प्रणाम को 'नमन्तु शिरांसि' कहा है। दूसरे प्रकार का प्रणाम 'घटन्तामजलय' था, जिसमें अंजलिबध्द होकर चक्रवर्ती सम्राट के सामने सिर झुकाकर प्रणाम किया जाता था, जिसे कादम्बबरीकार (कादम्बरी-बाणभट्ट चन्द्रापीड़ दिग्विजय–पृ. 543), (कादम्बरी एक सांस्कृतिक अध्ययन–पृ. 133) ने 'केर्न विर-चितः शिरासि सेव्वांजलि' वाक्य द्वारा अभिहित किया है। यह प्रणाम प्रथम प्रणाम से किंचित हीन भाव वाला है। तीसरे प्रकार के प्रणाम में सम्राट के चरणों का स्पर्श किया जाता था। बाणभट्ट (वही–कादम्बरी) ने इसे 'सदृष्टःक्रियताम् आत्मामच्चरण नरवेषु' कहा है। रघुवंश में रघु (4/88) तथा दशरथ (6/13) तथा दशरथ (6/13) की दिग्विजय प्रसंग में महाकवि कालिदास ने इस प्रणाम का बड़ा रोचक वर्णन किया है। कालिदास रघुवंश में लिखते हैं कि राजाओं ने रघु के चरणों में झुककर किया, जिस पर ध्वजा, बज्र और छात्र आदि की रेखाएँ बनी हुई थी। उस समय उन राजाओं के सिर की मालाओं से जो पराग गिर रहा था, उससे रघु के चरणों की ऊँगलियाँ उज्जवल हो गई। चतुर्थ प्रणाम को 'कादम्बरी' में बाणभट्ट ने, (कादम्बरी–पृ.543) कैर्न धृष्टाः पादपीठे चूड़ामणयः नाम से उद्धृत किया है, जिसमें निर्जित (पराजित) सामन्त या राजागण सम्राट के चरणों में मुकुट आदि रख उनकी चरण धूलि अपने मस्तक पर चढ़ाते थे। कालिदास रघुवंश (6/13) में दशरथ की दिग्विजय यात्रा प्रसंग में इस प्रणाम का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि जैसे देवता लोग इन्द्र के चरण छूते हैं, वैसे ही सैंकड़ों पराक्रमी राजाओं ने दशरथ के

चरणों में अपने मुकुट वाले सिर रख दिए, जिनकी मणियों की चमक से दशरथ के पैर के नख ललाई से दमक उठे। पाँचवे प्रकार का प्रणाम पादपीठ के समीप पृथ्वी पर सिर टेककर किया जाता था। इसको आज की भाषा में दण्डवत प्रणाम या पुराणों की शब्दावली में अष्टांग प्रणाम कह सकते हैं। इसके अतिरिक्त युद्धभूमि में वीर गति प्राप्त पराजित राजाओं की रानियाँ राजकुमारों सहित अपने केशों को फैलाकर विजत नरेश के रथ के सामने बार–बार दयाभाव प्रदर्शित करती हुई प्रणाम करती थी। रघुवंश (6/14) के दशरथ विजय प्रसंग में इसका विस्तृत वर्णन हुआ है। पराजित राजा कंठ में कृपाण बाँधकर डाढ़ी मूँछ मुड़वाकर सम्राट के सामने साष्टांग प्रणाम कर प्राणों की भिक्षा माँगते थे तथा राजमहलों के समस्त शिष्टाचारों में निष्णात अपनी राजकुमारी को 'तांबूल करंक वाहिनी' बनाकर विजित नरेश की सेवा में सदा--सदा के लिए अर्पित कर देते थे। 'कादम्बरी' में कुलूत नरेश की पुत्री पत्रलेखा का ऐसा ही प्रसंग आया है। 'अपराजितपृच्छा' ग्रंथ के अनुसार प्राचीनकाल के महाराजाधिराज की सभा में 12 दण्डनायक, 4 मंडलेश्वर, 12 मांडलिक, 16 महासामंत, 32 सामंत, 160 लघुसामंत तथा 484 चौधरी के अतिरिक्त भारी संख्या में निर्जित राजाओं की उपस्थिति रहती थी। (कादम्बरी सांस्कृतिक अध्ययन–वासुदेव शरण अग्रवाल पृ.33) इसलिए जब महाराजाधिराज के दरबार की सभा विसर्जित होती थी, तो सम्राट को प्रणाम करने की आतुरता में भगदड़ मच जाती थी। जिसका सटीक आँखों देखा वर्णन 'कादम्बरी' (शूद्रक सभा विसर्जन–पृ.33) इसलिए जब महाराजाधिराज के दरबार की सभा विसर्जित होती थी, तो सम्राट को प्रणाम करने की आतुरता में भगदड़ मच जाती थी। जिसका सटीक आँखों देखा वर्णन 'कादम्बरी' (शूद्रक सभा विसर्जन-पृ. 66) में शूद्रक सभा विसर्जन के वर्णन में हुआ है। ऐसे अवसरों पर प्रतिहारी स्वर्णिम वैत्रलताओं के साथ आलोकयत–आलोकयत (देखो हटो बचो) की कठोर किन्तु शिष्ट आवाज करते हुए प्रणाम करने वाले दरबारियों की भीड़ से नरेश को निकालते थे। आज्ञा विषयक प्रणाम के लिए प्रतिहारी या परिचारकाएं मस्तक झुकाकर प्रणाम की मुद्रा के पश्चात् नरेश की आज्ञा का पालन करते और सैनिक तलवार का ललाट से स्पर्श कराकर प्रणाम करते थे।

महाराधिराज, राजाओं, सामन्तों एवं निजी पुरूषों के प्रणाम के उत्तर में लोगों के पद सम्मान के अनुसार उसी प्रकार का व्यवहार करते थे, जिस प्रकार मिलने आनेवाले लोगों से मंत्री या मुख्यमंत्री करते हैं। बाणभट्ट ने 'हर्षचरित' के सातवें उच्छवास में प्रणामों के सम्राट के प्रत्युत्तर का बड़ा सजीव चित्रण किया है। स्वयं बाण की शब्दावली में पढ़िए- 'सर्वप्रथम राजा लोग आ–आकर हर्ष के सामने प्रणाम करने लगे। कुछ सोने के मुकुट, जिन के नीचे मणि जड़ी थी, कुछ फूलों के शेखर और भी अधिक ध्यान से देखते हुए, जिसमें भौंहें कुछ ऊपर खिच जाती थी, किसी को अधिस्मित (हल्की मुस्कराहट) से' किसी को और भी अधिक मुख की प्रसन्नता से, किसी को छेकालाप (चतुराई भरे दो शब्द) से किसी को कुशल प्रश्न पूछकर, किसी को प्रणाम के उत्तर में स्वयं प्रणाम करके, किसी को अत्यन्त बढ़े हुए भ्रूविलास और वीचक्ष रूचि से ओर किसी को आज्ञा देकर।' (हर्ष चरित्र सांस्कृति अध्ययन-पृ. 156) इस प्रकार पद, सम्मान तथा परस्पर प्रीति के आधार पर सम्राट हर्ष प्रणाम स्वीकार कर रहे थे।

आत्मीयता की महक से महकती प्राचीन भारत की अभिवादन संस्कृति तभी सार्थक मानी जाती थी जब कि प्रणत के प्रत्युत्तर में प्रणम्य भी मधुर भाषा में स्नेह से सिक्त आशीर्वचन द्वारा अपनी आत्मा का रस प्रदान करें। इसलिए प्राचीन भारत के जन–जीवन के दैनिक शिष्टाचार तथा आचार–विचार के क्रियाकलापों का प्रमाण देने वाले धर्म शास्त्र एवं पौराणिक ग्रंथों में प्रणम्य के व्यवहार पर भी पर्याप्त वैचारिक व्यायाम कर उसको कठोर अनुशासन के नियमों में बाँधा गया

है। प्रणाम के बदले आदरणीय प्रणम्य द्वारा प्रत्युत्तर में प्रदत्त आदर, सत्कार या स्नेहशीष प्रत्य अभिवादन कहलाता था। प्राचीन धर्म शास्त्र एक स्वर में ब्राह्मण को बुद्धिजीवी तथा ज्ञान का साधक मानते हुए उसे समाज में आदर देने के साथ-साथ यह भी घोषणा करते हैं कि कोई ब्राह्मण प्रणाम का उत्तर न दे तो उसे शूद्र के समान समझना चाहिए। और ऐसे ब्राह्मण को कदापि प्रणाम न करें। प्राचीन भारत के ज्ञान की साधनारत गुरूकूलों, आश्रमों तथा समाज के भद्र बुद्धिजीवी पढ़े-लिखे विवेकशील पुरूषों के बीच प्रचलित प्रसभिवादन सांस्कृतिक शिष्टाचार का सटीक उल्लेख पाणिनी की 'अष्टाध्यायी' के 'प्रत्यभिवादेऽशूद्रे' सूत्र (8–2–83) में हुआ है। इस सूत्र के अनुसार प्राचीन काल में व्यक्ति जब अपने नाम तथा गोत्र के उच्चारण के वाचन के साथ प्रणाम करता था तो प्रणम्य को प्रसभिवादन या आशीर्वाद में प्रणाम करने वाले के नाम के अन्तिम स्वर को प्लुत करना अनिवार्य था। प्लुत का अर्थ है 'अ' ध्वनि तीन 'अ' के समान ध्वनि में बोलना। यानि 'अ' उच्चारण में जितना समय लगता है पलुत (ऽ) स्वर में बोला जाता है। किन्तु उस वाक्य के अन्त में प्रणाम करने वाले का नाम या सौम्य आदि पर (शब्द) ही प्रयुक्त होते है। यदि नाम के अन्त में स्वर होतो अन्तिम अक्षर को ही 'टि' संज्ञा प्राप्त होगी। और यदि नाम का अन्तिम अक्षर हलन्त हुआ तो उसके पूर्ववर्ती स्वर को 'टि' माना जायेगा और उसी का प्लुत उच्चारण होगा। यदि प्रणाम करने वाला शूद्र या स्त्री हो तो उसे आशीर्वाद देते समय उसके नाम का अन्तिम स्वर प्लुत नहीं बोला जाता था। प्रसभिवादन की यह रिवाज ईसा से छे शताब्दी पूर्व उस समय काफी प्रचलित थी जब कि हमारे देश का समाज वर्ण व्यवस्था की कठोर कड़ियों में बँधा हुआ था। पाणिनी के सूत्र के अनुसार प्रणाम वाक्य इस प्रकार होना चाहिए–'अमुक गोत्रः अमुक शर्माहं (वर्माह गुप्तोइहंवा) भवन्त अभिवादये। आशीर्वाद वाक्य होगा–'आयुष्मान भव सौम्य, आयुष्मानेधीन्द्र शर्म इन, आयुष्माने धीन्द्रवर्मइन, अथवा आयुष्मानेधीन्द्र गुप्तऽ इत्यादि। उल्लेखनीय है कि जो इस प्रकार आशीर्वाद देना जानता हो उसी को उक्त विधि के नाम गोत्रादि का उच्चारण करके प्रणाम करना चाहिए और जो न जानता हो उससे 'अयमहम् प्रणामामि' आदि साधारण वाक्य बोले जाते थे। आज भी हमारे देश के संस्कृत शास्त्रीय विधि से शिक्षा प्रदान करने वाले शिक्षालयों में उक्त अभिवादन तथा प्रत्यभिवादन शिष्टाचार की उपस्थिति जीवित है।

अभिवादन या सम्मान के सर्वाधिक योग्य कौन है इस पर भी हमारे प्राचीन ऋषियों ने पर्याप्त विचार करके, अनेक उपयोगी तथा करणीय सुझाव दिए हैं, जिनका प्राचीन भारत में आदर के साथ पालन किया जाता था। विष्णुधर्म सूत्र (32.18) के अनुसार प्राचीन काल में तुलनात्मक श्रेष्ठता की दृष्टि से ब्राह्मण की श्रेष्ठता ज्ञान से, क्षत्रिय की श्रेष्ठता शक्ति से, वैश्य की श्रेष्ठता धन सम्पत्ति से तथा शूद्र की श्रेष्ठता आयु से मानी जाती थी। याज्ञवल्क (1/16) की सलाह है कि विद्या, कर्म, बन्धु और वित्त से युक्त व्यक्ति क्रमशः पूजनीय होते हैं। नारदपुराण (पूर्वभाग–प्रथम पाद–पृ.86 गी प्रेस) का दृढ़ विश्वास है कि तपोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध तथा आयुवृद्ध के रूप में दीर्घजीवी बजुर्गो को प्रणाम करने से प्रणत के व्यक्तित्व में आयु, विद्या, यश और बल की वृद्धि होती है। 'पद्मपुराण' (स्वर्ग खण्ड-पृ. 381 गीतप्रेस) की भाषा में प्राचीन भारतवासियों का स्वभाव था कि ब्राह्मण से भेंट होने पर कुशलता, क्षत्रिय से अनाभय, वैश्य से कुशल क्षेम तथा शूद्र से उसके स्वभाव के विषय में संभाषण से पूर्व सबसे पूछते थे। 'पद्मपुराण' में पारिवारिक, शैक्षणिक तथा समाजिक जीवन के प्रणम्य व्यक्तियों की विस्तार से व्याख्या की है। प्राचीन काल में सम्मानीय पिता वर्ग में उपाध्याय (गुरू), पिता, बेड़ेभाई, राजा, मामा, श्वसुर, नाना, दादा, वर्ण में अपने से श्रेष्ठ व्यक्ति, पिता का भाई, तथा माता वर्ग में माता, नानी, गुरू पत्नी, बुआ, मौसी, सास, दादी, बड़ी बहिन, दूध पिलाने वाली धाय

प्रणम्य तथा आदर की कोटि में माने जाते थे। (वही पृ. 381) पिता और माता वर्ग के सम्मानीय उक्त संबन्धियों को 'पद्मपुराण' का ऋषि गुरूजनों की कोटि में रखता है, जिनको देखते ही आसन से खड़ा हो जाये और हाथ जोड़कर प्रणाम करे। इनके साथ न ही एक आसन पर बैठना चाहिए और न ही द्वेषपूर्ण विवाद करना चाहिए। इनमें भी उत्पन्न करने वाला पिता, जनम देने वाली माता, विद्या का उपदेश देने वाला गुरू, बड़ा भाई और स्वामी ये पाँच परम पूज्य माने गए हैं। प्राचीन भारत के कल्याणकारी पुरूषों द्वारा अपने पूर्ण प्रयत्न से अथवा प्राण त्यागकर भी इन पाँचों का विशेष सम्मान किया जाता था। इन पाँचों में भी माता को सम्मान की दृष्टि से पद्मपुराणकार सर्वश्रेष्ठ स्थान प्रदान करता है। इसलिए पद्मपुराण मं स्पष्टतः घोषणा की गई है कि माता के समान देवता और पिता के समान दूसरा गुरू नहीं है। इनके किये हुए उपकारों का बदला भी किसी तरह नहीं हो सकता। इसिलए माता-पिता सर्वाधिक सम्माननीय हैं।

प्राचीन काल में विद्यार्थियों को शिक्षा प्राप्त करने के लिए रात-दिन गुरूओं के पास आश्रम में रहना पड़ता था, जहाँ आचार्य का परिवार भी साथ-साथ रहता था। इसलिए 'आपस्तम्बधर्म सूत्र' में कहा गया है कि शिष्य गुरू पत्नी को अपने आचार्य के समान ही सम्मान करता था परन्तु गौतम तथा विष्णु धर्म सूत्र की भाषा में गुरू पत्नी को गुरू के समकक्ष आदर तो दिया जाता था, गुरू भार्या के चरण स्पर्श नहीं कये जाते थे, अपितु पैरों से स्पर्श रहित केवल उसके सामने पृथ्वी पर माथा टिका कर प्रणाम किया जाता था। मनुऋषि के अनुसार यह नियम युवा गुरू पत्नी की बस वर्ष की आयु वाले प्रणाम कर्त्ता शिष्यों पर लागू होता था। प्राचीन काल में गुरू लोग जब पढ़ाते–पढ़ाते थक जाया करते थे तो अपने वरिष्ट शिष्यों को कनिष्ठ शिष्यों को पढ़ाने का काम सौंपकर विश्राम करते थे। ऐसे वरिष्ठ शिष्यों को 'समादिष्ट' कहा जाता था। समादिष्ट का भी शिष्यगण गुरू के समान ही आदर सम्मान यिका करते थे।

अभिवादन या प्रणाम तथा प्रत्यभिवादन हमारे देश के लौकिक सांस्कृतिक शिष्टाचार का ऐसा अपूर्व अनुष्ठान है जिसमें आत्मीयता के द्वारा आत्मा के माधुर्य का निर्झर स्वतः ही बहता रहता है, जो भाषा, रीति–रिवाज एवं समस्त कृत्रिम बंधनों को तोड़कर व्यक्ति को व्यक्ति से अदृश्य भाव डोरी में बाँधता है। पश्चिमी सभ्यता का अभिवादन समय सूचक है तथा इस्लाम संस्कृति का अभिवादन एकता का प्रेरक है, परन्तु हमारे देश का अभिवादन शिष्टाचार आत्मा के सौन्दर्य को परस्पर बाँटने का अनुपम साधन है।

कदम्ब 2/2, मानवीय नगर – जयपुर – 17,
फोन - 0141–2521303,
मो०-09414796265

●

जब तक आपके माँ-बाप जिंदा हैं आपको मुकद्दस मुकामात की जियारतों के लिए जाने की जरूरत नहीं।

- कन्फ्यूशियस

असफलताओं की चिंता मत करो वे स्वाभाविक हैं, जीवन का सौंदर्य है। यदि तुम हजार बार भी असफल होते हो, तो भी एक बार फिर प्रयत्न करो!

- स्वामी विवेकानन्द

पुष्टिमार्ग में वसंत की भाव-भावना

पं. रमेश उपमन्यु

पुष्टि मार्ग में होली खेल उत्सव है। श्री मद्‌भागवत में होली खेल का अन्य खेलों की तरह कोई उल्लेख नहीं है। कुछ मान्यवर विद्वान 'वसन्त इवलक्ष्यते' इस श्लोक सूत्र से होली मानते हैं। कुछ मान्यवर विद्वान श्रीमद्‌भागवत दशम उत्तरार्द्ध रेमेषोडष सहस्त्र पत्नीनाम् एकवल्लभ (10-90-5) के प्रकरण में विजहार विगाहयाम्भोहदिनीषु महोदयः (10-90-7) सिच्यमानोअच्युत स्वाभिर्हसन्तीभि स्मरेचकैः प्रतिषिन्चन् विचिक्रीडे यक्षीभिर्यक्षराडिव (10.90.9) से होली खेल की अनुमानित प्रामाणिकता स्वीकारते हैं। किंतु यह मर्यादा लीला खेल है। (पुष्टिमार्ग में जहां तक संभव है रेमे रमेशो व्रज सुन्दरीभिर्यथार्भकः स्व प्रतिविम्वविभ्रमः - (रासपन्चाध्यायी से स्वीकार करते हैं) यह तो प्रमुख कारणों पर दृष्टिपात किया है। अब मूल पुष्टि भावना पर विचार करते हैं।

1. श्री हरिराय महाप्रभुजी ने श्रीमद्‌भागवत- प्रथम स्कन्ध प्रथम-अध्याय प्रथम श्लोक की भावना में निगमकल्पतरोर्गलितं फलं को लेकर कल्पतरु तीन बताये हैं -

1. कल्पतरु - जो स्वर्ग में है
2. निगम कल्पतरु -जो श्रीमद्‌भागवत है
3. श्रृंगार कल्पतरु -साक्षात् श्री गोपीजन बल्लभ

ये श्रृंगार कल्पतरु श्री कृष्ण। नवरस संपन्न माने हैं यथा-

मल्लानामशनिनृणांनरवर स्त्रीणांस्मरो मूर्तिमान
गोपानां स्वजनों सतां क्षितिभुजांशास्ता स्वपित्रोः शिशुः

उपरोक्त की व्याख्याओं में श्रीकृष्ण को नवरस संपन्न माना है उधर साहित्य के विशेषज्ञों ने नवरस में श्रृंगार रस को रसराज या नवरसों में राजा माना है और श्रीकृष्ण श्रृंगार संपन्नता में स्वयं परिपूर्ण है। पुष्टिमार्ग की धारणा है श्री मद् वल्लभाचार्यजी ने अपने समय में ठाकुरजी के श्री मस्तक के साढ़े आठ श्रृंगार बताये थे और उनके द्वितीय पुत्र श्री विट्ठलेश प्रभुचरण ने शास्त्र उत्सव नित्य ऋतु मासानुसार इनको चौरासी की संख्या में प्रभु को धरा दिया। यहां तक हम श्री कृष्ण को श्रृंगार कल्पतरु मानने का बिंदु कह चुके हैं। इसके ब्रजभक्तों की एक प्रबल धारणा से हम आगे विचार करते हैं। वह धारणा-

नवहिं अंग श्रृंगार के होरी, चोरी, दान, छलय करन, वन ऋतुगमन, विरह मिलन, अरुमान

इस श्रृंगार रस में से होरी खेल लिया है। इस होरी खेल का प्रारंभ वसंत पंचमी से है। वसंत नाम की ऋतु है, जो अलौकिक और भगवत्स्वरूप है। 'ऋतुनाम कुसुमाकर' यह वसंत ऋतु काल रूप की चेतना में साक्षात श्रीकृष्ण की विभूति है एवं पंचमी में पांचवा शब्द कामदेव के कुसुमशर के पांच पुष्पों से संबंधित है।

इस वसन्त पंचमी में व्रज की गोपियां श्री राधाजी को साथ लेकर होली खेल के निमंत्रण को नंदालय पधारती हैं और प्रमुख द्वार जहां श्री कृष्ण विराजते हैं वहां कलश की स्थापना करती हैं। कलश के प्रति आंतरिक विचारः कलश की स्थापना अष्टदल पर होती है जो कुंकुम या हल्दी रचित है। (यह निमंत्रण हम अष्ट सखियों का है) कलश में आम्र पल्लव- आम्र पल्लव रसरूप है।

चूत प्रवाल वर्हस्तवकोत्पलाब्ज - इसमें आम के पत्ता और फूल श्रृंगार में बताये हैं जो रस रूप है (10-21-8) सरसों के फूल की डाली। सरसों के फूलों का पीलापन विरहजन्य भाव का सूचक है।

आयौ वसंत सवहिवन फूले खेतन फूली सरसों-

मै पीरी भई पियाके विरह में कहौ जाय कोई राधा वरसों

श्रीफल -प्रियतम के स्मरण में काम जागृत होने पर नायिका के उरोज सबल और कठोर होते हैं उसका प्रतीक श्री फल है।

यथा- दानलीला बड़ी हरिरायजीकृत-

लियेजात कंचन कलश कमल वसनसों ढ़ाप - कहीं तक लीला में इनकी उपयोगिता है।

(यहां जिस काम का आभास बताया है वह लौकिक नहीं है। वह प्रेभैव-गोप-रामाणां-काम इत्यमिधीयते) व्रज गोपियों के प्रेम को ही काम की उपाधि दी है। (आचार्य वल्लभ) खजूर वृक्ष की डाली, इस वृक्ष के पात विदीर्ण नहीं होते हैं। हे कृष्ण आपके विरह से मन व्याकुल है। विदीर्ण नहीं है आपके लायक है, सम्भालकर रखा है।

कलश में जल श्री यमुनाजी का स्वरूप है। यमुनाजी दोष दूर करती हैं। हमारा हृदय कलश पूर्ण शुद्ध है। इसकी स्थापना में संकल्प भी बोला जाता है एवं गुण विशेष विशिष्टायां तिथौ- भगवतो पुरुषोत्तमस्य वृंदावने वसन्त क्रीडार्थ वसन्ताधिवासनमहं करिष्ये -

इस होली खेल के आमंत्रण के साथ आज की सेवा में एक पत्र भी निवेदित है-

ऐसौ पत्र लिखिपठयौ नृप वसंत, तुम तजौ मान मानिनि तुरंत (ध्रु.) कागद नवदल अंवपाँत द्वात कमल मसि भँवरगति।। लेखन काम के वान चाप।। लिख अनंग ससि दईछाप मलयानिल पठयौ कर विचार।

वांचे शुक पिकतुम सुनौनार।। सूरदासयो वदतिवान नर तू हरिभज गोपी तजि सयान।। ।।

यह वसंत ने पत्र गोपियों को लिखा है मान त्यागने की विनय की है कांत के द्वारारूठी कांता को मनाने में रसवृद्धि है ऐसा साहित्य का निर्णय है। अतः उत्सव छोड़कर मानके पद गाने की रीत है। पहले वसन्त आगम के पद गाये जाते हैं। ठाकोरजी के सामने गीत गोविन्द कार जयदेवजी की अष्टपदी गाई जाती है।

ललित लवंगलता परिशीलन वसतिवनेवनमाली- इसमें श्रीकृष्ण गोपियों से मिलन हेतु व्याकुल दशा का वर्णन है-

राजभोग समय में- हरिरिह व्रज युवति शत संगे- विलसतिकरिणीगण वृत वारण इव रतिपतिमान भंगे राग वसंत में गाया जाता है।

राधिकाजी से विनती की जाती है कि आप श्रीकृष्ण के मनोरथ पूर्ण करें। पहले गुलाल से पिछवाई पर व्रज के गाम और पक्षियों के चित्र अलग अलग रंगीन गुलाल से बनाये जाते हैं। खण्ड के वस्त्रों को भी होली खिलाई जाती है। पुष्टिमार्ग की हवेलियों में कहीं श्याम रंग की गुलाल से प्रथम खेलते हैं। कहीं केशरी गुलाल से प्रथम खेलते हैं। कारण कि प्रणाली एक होने पर भी स्वरूप दो प्रकार के हैं।

1. लीला भावना और दूसरी निकुंज भावना - इस आधार से रंग की प्राथमिकता है। प्रति दिन के अतिरिक्त प्रभु को एक फूलों की छड़ी विशेष धरायी जाती है। इन दिनों में 40 दिन आम वृक्ष के फूल (बौर) का मुकुट ठाकुरजी को धराते हैं। मैंने रस राज पर विजय प्राप्त की उसका यही भाव है।

जितनी देर ठाकुरजी खेलते हैं उतनी देर उनके चरण या चरण नख के दर्शन नहीं कराये जाते हैं। आपके चरणों पर एक श्वेत वस्त्र धर दिया जाता है। जिससे चरण दर्शन न हों।

ठाकुरजी के पीछे में जो पिछवाई धराई जाती है उसमें गुलाल से पक्षी, मृग, गाय सहित वृज के गांवों की रचना की जाती है। उसमें कभी कभी सुविधानुसार आज कल स्वनिर्मित कागजों का फर्मा का भी सहारा लेते हैं। उसमें यथोचित गुलाल अमुकर रंग की भरी जाती है।

इन दिनों में एक थाल ठाकोरजी के सन्मुख आता है। जिसमें 8.16 या 32 या चालीस कटोरी आती है उसमें अलग-अलग सामग्री भोग आती है। इसे फगुआ का थाल कहते हैं जो खेल के बाद श्री कृष्ण अपनी सखियों को बांटते हैं। (फगुआ लिए विन जान न देहु) अथवा (बरसाने की गोपी मांगन फगुआ आई हो) इन दिनों की इत्र या सुगंधी में पिछवाई में लगाने को चौवा नामक सुगंधी पदार्थ विशेष उपयोगी है। कहते हैं खेल ही खेल में श्री राधाजी ने अपने नेत्र श्याम सुन्दर के वस्त्रों से पोंछ लिए तो उनमें काजर का दाग पड़ गया उस भावना से चोवा जैसी सुगन्धी द्रव्य का प्रयोग है। होली के अमुक दिनों में वृजगोपी ठाकुरजी को गारी गाती है। (गाली नहीं) (गारी) आऔरी तुम आऔ मोहन जूं कूं गारी सुनाओं (अष्ट छाप)

गोपियां श्री कृष्ण के घर जाकर कहती है - होरी हो वृजराज दुलारे, जवसो लगी है वसंत पंचमी फाग हि फाग पुकारे। अब क्यों जाय छिपे जननी ढिंग। दो वापन के वारे, कै तो निकस आय तुम खेलो कै मुखसो कहो हारे- कहते हैं श्रीकृष्ण होरी में विजयी लगातार कई दिन होते रहे तो वृजसीमंतनीयों ने निर्णय किया आज श्री कृष्ण को घेरौ श्रृंगार वस्त्र उतारकर गोबर का श्रृंगार करौ और उन्हें उनकी मां के पास भेजो साथ में गारी भी गाओ। गोबर भरौ भड़ुआ के मुंह से गाऔ गारी कह रसखान एक गारी पै सौ आदर वलि हारी।

श्री हरि का यह सरस वसन्त है। अष्टछाप के बाद पदमाकर विहारी आनन्द धन रसखान, धोंधी ताजवीवी से लेकर अभी तक देवकवि हरिचन्द्र इनके बाद वालों ने भी वसन्त सरस किया है।

यह ध्यान गम्य बात है कि वृज में श्रीकृष्ण की गोपियां तामस-राजस और सात्विक यूथ की है इनमें चौथा यूथ निर्गुण है। निर्गुण यूथ में प्रमुख श्री राधारानी है और श्री गिरिराज जी में इनकी कंदरा राधा कुण्ड है

निर्गुण यूथ का रंग श्वेत वर्ण है। अतः फाल्गुन मास में वसन्त से डोल तक 41 दिन आते हैं। इनमें केवल श्वेत वस्त्र ही आते हैं। उत्सव के दिन की बात अलग है। वसंत पंचमी से एक दिन पहले तक शीतकाल के राग गाये जाते हैं। वसंत पंचमी से पंद्रह दिन वसंत राग गाया जाता है। होरी डांड़ा रोपन के बाद गौरी काफी भैरव-विलावल- गाये जाते हैं।

भक्ति के दो पक्ष हैं संयोग तथा विप्रयोग - भादवा कृष्ण जन्माष्टमी से भक्ति का संयोग रस है। राधा अष्टमी वामन द्वादशी नव विलास रास तक कात्यायनी व्रत के बाद खण्डिता के पदों में विप्रयोग की अनुभूति है। उस विप्रयोग की निवृत्ति पूर्ण संयोग होली से है। इस प्रकार पुष्टि भक्ति का समग्र फल रूप होली है। व्रज में होली का समापन चैत्र कृष्ण दशमी या एकादशी को होता है - ढ़प धर दै यार गई परकी - कहकर और गाकर ढ़प-ढोल-मृदंग-परखावज- नगाड़े- बंशी - वीन- सारंगी- महुवर- मुहचंग- चंग- झांझ- खरताल- मंदेलरा- किन्नरी आदि कृष्णकालीन इस समय के बाजे हैं। पग घूंधरु कटि घूंघरु भी है। सेवक (भक्त) की तरफ प्रभु का झुकाव ही पुष्टि है पूरे फाल्गुन में यही भाव अनुभव है।

चली चल यों ही डोले री वजमारौ

तूभोरी छल वल नाहि जानै जोवन है तेरौ वारो
नागरिया घूंघट मत खोलै फिर न टरेगौ टारो।।

कहते हैं ताज बीबी ने होली के दिनों में ही अपने देह त्यागकर लीला में गईं- वहुर ढ़प वाजन लागे हेली, श्री कृष्ण काल से लेकर आज तक ब्रज में जहां भी होली खेल गांव गांव होता है। उस खेल के समापन के बाद उस क्रीड़ा स्थल की रज् खेलने वाले अपने माथे से लगाते हैं। यहीं कारण है कि ब्रज रज रस रूप है।

पुष्टि मार्ग में होली गान के आखिरी स्तंभ परषोत्तम प्रभु की छवि निरखत वाली छाप आखिरी है। यों तो यह ब्रजभूमि है इसके महानुभावों का पुनः दर्शन होता ही रहेगा, परंतु वह बात कुछ और ही है। सबकी चोट निसाने पै जा रस पै 'सव व्रज आट क्यौं वो आट क्यौं वरसाने पै'।

श्रीमद्‌गोकुल ठकुरानी घाट से रावल की ओर श्री राधाजी का गोकुल है

श्रीमद्‌गोकुल ब्रह्मांड घाट की ओ श्री कृष्ण का गोकुल है

श्रीमद्‌गोकुल से महावन होकर दाऊजी तक दाऊ दादा का गोकुल है

श्रीमद्‌गोकुलचन्द्रावलि होकर लोहवन तक चन्द्रावलीजी का गोकुल है

गोकुल में नंद चौक है - ऊपरलिखित चारों ओर से गोपियां आई और गोकुल में ठाकुरजी से होरी खेली अतः गाया है या गोकुल के चोरटे हो रंग राची ग्वाल (धमार)

होरी खेल में धमार गायकों की पुष्टि मार्गीय शैली अपनी जगह विशिष्ट है।

अब से सौ वर्ष पहले रसिया गान नहीं था। परंतु होरी खेलने वालों को रसिया सम्बोधन करके बुलाया जाता था। तो उन रसिकजनों द्वारा गाया जाने वाला गान रसिया कहा जाता है। रसिया गान की एक विशेषता है कि ब्रज में बोले जाने वाली मौलिक भाषा को ज्यों की त्यों गा दिया जाता है। इसी रस से यह रसिया कहा जाने लगा। इससे पहलु ज्यादाकर धमार या काफी राग गाये जाते थे। ब्रजभाषा के रसिया का नमूना यथा-

'मृग नैनी तेरौ यार नवल रसिया'। यह पंक्ति भाषा वद्ध भी है और गान वद्ध भी है।

होली के दिनों में कुछ लीला भी है जैसे -

शंकर लीला-विदुषी लीला- मनिहारी लीला- मालिन लीला- लिलिहारी लीला- ये सब राधाजी को छलने के लिए की है और श्री राधाजी ने अपनी चतुराई से श्रीकृष्ण को पहचान कर अपनी चतुराई से श्रीकृष्ण को प्रभावित किया। अतः कहा है सकल कला प्रवीन तदपि भोरी

नंद के द्वार मची होरी। उतमें ठाड़े कुंवर कन्हैया, इत ठाड़ी राधा गोरी ।।1।।

पांच वर्ष के कुंवर कन्हैया, सात वर्ष राधा गोरी ।।2।।

हाथ में लाल गुलाल फेटभर, डारत हें भरभर झोरी।।3।।

सूरदास प्रभु तिहारे मिलन कूं, अविचल रहियो यह जोरी।।4।।

गहेरे कर यार अमल पानी। चल बरसाने करे मिजमानी, तेरी भांग मिरचकी, में मैं जानी ।।1।।

तोही करेंगे होरी को रसिया हम होयगे तेरे अगवानी। 'पुरुषोत्तम' प्रभु की छबि निरखत, तेरे मनकी हम जानी।।2।।

ठाडी रह ग्वालन मदमाती। यह अवसर होरी को हैरी, हम तुम खेले संग साती ।।1।।

भूल गयो घर गेल हमारी, ले लगाइ अपनी छाती। पुरुषोत्तम प्रभु हंसत हंसावत, ब्रज बनिता सब गुण गाती ।।2।।

नैक आगैं आ स्याम तोपै रंग डारूं। रंग डारूं तेरे मरवट मांडू। गालन पै गुलचा मारूं।।1।।

एडी टेडी तेरे पगिया बांधू, पगिया पै झुलरी पारूं। 'पुरुषोत्तम' प्रभु की छबि निरखे। तन-मन-धन जोबन

वारूंगी।।2।।

बृन्दाबन खेल मच्यौ, भारी। बृन्दाबन की गोरी नारी, टूटे हार फटै सारी ।।1।।

बृज की होरी, ब्रज की गोरी, बृज की श्री राधा प्यारी ।।2।।

पुरुषोत्तम प्रभु होरी खेलें, तन-मन-धन सर्वस वारी ।।3।।

सजनी भागन ते फागुन आयो, मैं खेलूंगी स्याम संग फाग। उनने भिजोई मेरी फूलन अंगिया, मैं भिजोऊं वाकी पाग।।1।।

चोवा चंदन अगर कुमकुमा, और अबीर गुलाल। बरज रही बरज्यो नहिं माने, हियरा में उठ्यो अनुराग।।2।।

फेंट गुलाल हाथ पिचकाई, करत अनोखे ख्याल। कृष्ण जीवन लछिराम के प्रभु सों मागूंगी भाग सुहाग।।3।।

होरी आई श्याम मेरी सुध लीजो। मैं हूं सास ननद के बस में मेरि गलियन में चक्कर दीजो।।1।।

खेलन के मिस अइयो मेरे अंगना, मेरे जोबन को कछु रस लीजो 'पुरुषोत्तम' प्रभु की छबि निरखें हियरातें लिपटाय लीजो।।2।।

ब्रज की तोहे लाज मुकट वारे। चंदा सूरज तेरौ ध्यान धरत हैं, और धरै नौलख तारे।।1।।

इंदर कोप कियौ ब्रज ऊपर, तब गिरिवर कर पर धारे। पुरुषोत्तम प्रभु की छबि निरखत, गाय गोप के रखवारे।।2।।

चिरजीवौ होरी के रसिया। नित प्रति आओ मेरे होरी खेलन, नित गारी नित ही रसिया।।1।।

जौलों चंदा सूरज उदय रहैं, तौलों बृज में तुम बसिया।।2।।

हरीचंद इन नैन सिरायौ, पीत पिछौरी कटि कसिया।।3।।

मेरे नैनल में पिचकारी मारी नंद दुलारे ने ।।1।।

मैं जल भरवे गई सखी या सकर गिरारे में ।।2।।

दौरी दैकें पकर लई मन सुख वजमारेने।।3।।

इतने में ढिंग आय सखी वा कान्हा कारेनैं।।4।।

करदीनी सरवोर रंग में प्रानन प्यारे ने।।5।।

भगवत रसिक भक्ति मैं चाहूं प्रभु जी चरन तिहारे में।।6।।

हैजाये बेड़ा पार नाव भव सिंधु अपारे में।।7।।

श्री मदनमोहनजी का चौक
हरजीकुण्ड गली, जतीपुरा (गिरिराज बाग)

गुरु-धोबी

एक बार गांधी जी बिड़ला भवन में ठहरे थे। नहाने के लिए गए तो देखा घनश्यामदास जी बिड़ला अंदर हैं। उनके बाहर आने पर गांधी जी नहाने गए। देखा, बिड़ला जी की गीली धोती पड़ी है। गांधी जी ने धोती को पैर से हटा कर दूर नहीं किया। उसे धो डाला! स्नान करके गांधीजी अपनी धुली हुई लंगोटी और बिड़ला जी की धोई हुई धोती को सुखाने के लिए बाहर आए।

रस्सी पर सुखाने के लिए फैला रहे थे कि तेजी से बिड़लाजी आ पहुंचे। बोले- बापू जी! बाबू जी!! आप यह क्या कर रहे हैं? आपने मेरी धोती क्यों धोई। बिड़ला जी की वेदना का पार नहीं, लगा यह लापरवाही का एक दंड है, मीठा दंडा वे कुछ कह नहीं पा रहे थे।

गांधी जी ने कहा- 'भीतर पड़ी हुई थी, उस पर किसी के मेले पैर पड़ते। जीवन में स्वच्छता और सफाई के काम से बड़ा और कौन-सा काम है!' बापू का जीवन प्रमाण है– वे तो बराबर दूसरे के मैल को धोते रहे और अंत में गुलामी के सदियों पुराने मैल को साफ कर गए।

गुरु धोबी सिख कापड़ा जी
सुरत सिला पर धोइए, निकसत जोत अपार।

- *श्री अक्षयचन्द शर्मा*

राजस्थान की अनतिख्यात संत महिलाएं

डॉ. अर्चना द्विवेदी

मध्यकालीन कवियों, भक्त संतों ने नारी को जिन सीमित अर्थो में विवेचित किया उसमें स्त्री के बोध की प्रधानता रही। इसलिए तत्कालीन संत कवियों के लिए यह स्वाभाविक था कि वे महिलाओं की निन्दा करें। यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि नारी को रतिभाव से ही देखा गया। कबीर ने तो स्त्री को विरोधी तत्वों का मिश्रण माना और उसे अध्यात्म की बाधा के रूप में ही समझा।[1] किन्तु भक्तिमती मीरा बाई जिन्हें संतशिरोमणि की उपाधि दी गई के अलावा राजस्थान में ऐसी अनेक अनतिख्यात भक्त महिलाएं हैं जिन्होंने कबीर के स्त्री संबंधी विचारों को अधूरा साबित किया है। प्रस्तुत लेख में राजस्थान की ऐसी ही अनतिख्यात संत महिलाओं का परिचय दिया जा रहा है–

संत रानाबाई – मध्यकालीन राजस्थान में जिन नारी संतों की उपस्थिति तथा उनकी वाणी और ज्ञानात्मक टीकाएँ कबीर जैसे संतों की नारी भर्त्सना को चुनौती देती हैं उनमें रानाबाई का प्रमुख स्थान है। रानाबाई का जन्म मारवाड के हरनावा (मकराना से 25 किलोमीटर दूर) गांव में वैसाख शुक्ल तृतीया संवत् 1561 (सन् 1504 ई०) को एक जाट किसान परिवार में हुआ था। इनके दादा का नाम जालमसिंहजी पिता का नाम रामगोपाल तथा माता का नाम गंगाबाई था। इनके एक भाई भुवानजी तथा दो बहिने थी पालडी के संत चतुरदासजी की यह शिष्या थी। रानाबाई पढ़ी-लिखी नहीं थी। सांसारिक जीवन का परित्याग कर इन्होंने अपने अजर-अमर सुहाग के रूप में भगवान राम को ही अपना पति मान लिया था–

राना कहे राम वर मेरा, सतगुरू मेट्या सब उलझेरा।
अमर सुहाग अमर वर पाया, तेज पुंज की उनकी काया।।[3]

एक बार जब इनके गुरू संत चतुरदासजी (उर्फ खोजीजी) हरनावा इनके घर आये तो इनकी भक्ति भावना से प्रभावित होकर इन्हें अपनी शिष्या बना लिया –

सतगुरू खोजी खोज बताया, राम नाम का परचा पाया।[4]

कहा जाता है कि रानाबाई अपनी भक्ति साधना में इतनी लीन रहती थी कि एक बार उन्होंने 9 माह तक एक भवरे (तहखाने) में रहकर भक्ति साधना की –

नौ दस माह रही आ ऊँडी, अब सिणगार करन लागी।
अब तु आज्या भंवरा बारे, आप तिरे ओरां कू तारे।।

कहा जाता है कि दिल्ली सल्तनत के सूबेदार ने रानाबाई से विवाह का प्रस्ताव भिजवाया जिसे उनके परिवार ने ठुकरा दिया। जिससे नाराज होकर वह हरनावा पर चढ़ाई कर आ गया। जब रानाबाई को पता चला तो उन्होंने साहसपूर्वक सूबेदार का वध कर दिया। इससे मारवाड़ में रानाबाई की कीर्ति भक्त संत के साथ-साथ वीर महिला के रूप में स्थापित हुई। कालान्तर में रानाबाई का झुकाव राम भक्ति से हटकर निम्बार्काचार्य परसरामदेव के प्रभाव में आने के बाद कृष्ण भक्ति की ओर हो गया–

मुरधर देस सुवावणों रे, आवड़ ज्यासी लाल।
आतो जातो रही भला ही, एकर तो तूं चाल।

बिन्दराबन रो पंथ बताया, परसा करी निहाल।
'राना' सतगुरू खोजी शरणे, ले आई गोपाल।।

....

ओ मोहन म्हारे घर आयो। विरख भाण री घणी लाडली, जिवने भी संग लायो।।

मोर नाचरयो देख घटा ज्यूं, म्हारो मन हरसायो। गौर स्याम नैण रा हीरा, हर हरनांवा भायो।।

माखन मिसरी रो ओ रसियो, खीच बाजरी पायो। बिरज मण्डल री जुगल जोडनू, मुरधर लाड लडायो।।

इन पदों से यह अनुमान होता है कि रानाबाई ने मथुरा वृन्दावन की यात्रा की और वहाँ से अपने साथ राधाकृष्ण की मूर्ति ले आई तथा गांव हरनांवा में मूर्ति स्थापित कर कृष्ण भक्ति में लीन रही। राना वाई ने मारवाड़ी बोली में अनेक सरस भक्ति पदों की रचना की जिनमें से कुछ को प्रो० पेमाराम ने अपनी पुस्तक जाटों की गौरवगाथा में प्रकाशित किया है। रानाबाई का अध्यात्म दर्शन यह था कि सभी सांसारिक सुख मिथ्या हैं, केवल राम नाम से जीवन मुक्ति हो सकती है। इसके लिए गुरू का मार्गदर्शन आवश्यक है। गुरू ही हमें जीवन मरण के चक्र से मुक्त करवा सकते हैं - "राना सतगुरू खोजी शरणै, आवागमन मिटावै।" इनकी भक्ति में काम, क्रोध मोह, लोभ, ममता, आदि के लिए कोई स्थान नहीं है –

लख चोरासी जूण भटकती, मोह माया सू थाकी। काम, क्रोध, मद, मोह ने ये, म्हारा दूर निवारण।।

जीवन के उत्तरार्द्ध में रानाबाई ने अपने को भगवान कृष्ण के प्रति पूर्ण समर्पित कर दिया–

चरण शरण लिया कष्ट नसावै। राना सतगुरू खोजी शरणै, गिरधर लाज बचावै।

कृष्ण भक्ति में लीन रानाबाई ने फाल्गुन शुक्ल त्रयोदशी संवत् 1627 (सन् 1570) ई० को 66 वर्ष की आयु में हरनावा में ही जीवित समाधी ले ली। इनके भाई भुआनजी ने एक कच्ची समाधि बनवाई। समाधि के पास ही गोपीनाथ का मंदिर है, जहां रानाबाई द्वारा वृन्दावन से लाई गोपीनाथ की मूर्ति स्थापित है। रानाबाई के प्रति आस्था स्वरूप प्रतिवर्ष भादवा सुदी तेरस को यहीं विशाल मेला लगाता है।

संत करमेतीबाई – पूर्व जयपुर राज्य के शेखावटी में खण्डेला (जिला सीकर, राज.) के शेखावत ठाकुर के कुल पुरोहित परशुराम कांथड़िया की पुत्री करमेतीबाई कृष्णभक्त थी। करमेतीबाई ने विवाह बन्धन से बचने के लिए वृन्दावन जाकर ब्रह्मकुण्ड में साधना की थी। करमेतीबाई की स्मृति में बिहारीजी का मंदिर खण्डेला ठाकुर साहब ने बनवाया था। भक्त संत श्री नाभादास जी ने अपने भक्तमाल ग्रन्थ में करमेतीबाई के संबंध में लिखा है –

नस्वर पति-रति त्यागि कृष्णपद सों रति जोगी। सबै जगत की फाँस तरकि तिनुका ज्यों तोरी।।

निर्मल कुल काँथड़ा धन्य परसा जेहि जाई। करि बृंदावन बास संत मुख करत बड़ाई।

संसार–स्वाद–सुख त्यागि करि फेरि नही तिन तन चही।

कठिन काल कलियुग महँ करमेती निकलँक रही।।

संत दयाबाई – श्री केशव की पुत्री दयाबाई ने संत चरणदास से दीक्षा ली थी। दयाबाई की साधना सहजोबाई के साथ हुई थी। दोनों चरणदासी सम्प्रदाय में दीक्षित गुरू- बहिनें थी। दयाबाई ने "दयाबोध" एवं

"विनयमालिका" नामक ग्रन्थों की रचना की थी। राधाकृष्ण भक्ति की उपासिका दयाबाई का समाधि स्थल बिठूर में बना हुआ है। सहजोबाई की भक्ति प्रेम प्रधान है वहीं दूसरी ओर दयाबाई वैराग्य प्रधान है। वह प्रभू से पहले प्रार्थना करती हैं–

पैरत थाको हे प्रभू, सूझत वार न पार। मिहर–मौज जबही करौ, तब पाऊँ दरबार।।

निरपच्छी के पच्छ तुम, निराधारके धार। मेरे तुम ही नाथ इक, जीवन–प्रान–अधार।।

अपने ऊपर दृष्टि जाते ही दया का हृदय करुणा से उमड़ आया है–

जेते करम हैं पाके, मोसे बचे न एक। मरी ओर लखाखे कहाँ, बिर्द–बानो तन देख।।

नहि संजम, नहि साधना, नहि तीरथ–ब्रत–दान। मात भरोसे रहत है ज्यौं बालक नादान।।

प्रेमोन्मत्त संतका लक्षण दया ने यह बतलाया है –

'दया' प्रेम उन्मत्त जे, तनकी तनि सुधि नाहिं। झुके रहैं हरिरस-छके, थके नेम-ब्रत नाहिं।।

प्रेम–मगन जे साधवा, बिचरत रहत निसंक। हरि–रसके माते 'दया' गिनैं राव ना रंक।।

हरिरस–माते जे रहैं, तिनको मतो अगाध। त्रिभुवनकी संपति 'दया' तृन सम जानत साध।।

और अन्त में प्रभुचरणों में एकान्तनिष्ठा की कितनी सुंदर वाणी है -

सीस नवै तो तुमहिं कूँ, तुमहि सूँ भाखूँ दीन। जो झगरूँ तो तुमहि सूँ, तुम चरनन आधीन।।

निरपच्छी के पच्छ तुम, निराधार के धार। मेरे तुम ही नाथ! इसके जीवन–प्रान–अधार।।

संत सहजोबाई – सहजोबाई का जन्म गांव डेहरा अलवर में हुआ था। यह हरिप्रसाद की पुत्री थी। इनका जीवनकाल 18 वीं शताब्दी के मध्य में निर्धारित किया जाता है। सहजोबाई राधाकृष्ण की भक्त थी। इन्होंने "सोलह तिथि", "सहज प्रकाश" इत्यादि ग्रन्थों की रचना की थी। वे चरणदासी मत की प्रमुख संत नारी थी। इनके भक्ति साहित्य में प्रेम की प्रधानता है। इन दोनों गुरू बहनों ने भारतीय संत धारा में एक नवीन ज्योति का संचार किया। सहजोबाई और दयाबाई दोनों ही विद्वानों द्वारा शबदमार्गी बताई गयी हैं। सहजोबाई के अग्रलिखित दोहे उल्लेखनीय हैं –

जागतमें सुमिरन करै, सोवतमें लौं जाय। सहजो इक रस ही रहै, तार टूट नहि जाय।।

बैठे–लेटे–चालते, खान–पान–ब्यौहार। जहाँ–तहाँ सुमिरन करै, सहजो हिये निहार।।

सहजो भज हरिनाम कूँ, तजो जगतसूँ नेह। अपना तो कोई है नहीं अपनी सगी न देह।।

प्रेम–दिवाने जे भये, मन भयो चकनाचूर। छके रहैं, घूमत रहैं, सहजो देखि हुजूर।।

प्रेम-दिवाने जे भये, कहैं बहकते बैन। सहजो मुख हाँसी छुटै, कबहूँ टपकै नैन।।

प्रेम–दिवाने जे भये, जाति बरन गये दूर। सहजो जग बौरा कहै, लोग भये सब कूर।।

प्रेम-दिवाने जे भये, नेम धरम गयो खोय। सहजो नर–नारी हँसैं, वा मन आनँद होय।।

प्रेम–दिवाने जे भये, सहजो डिगमिग देह। पाँव पड़ै कितको कितै, हरि सँभाल तब लेह।।

संत भोली गूजरी – चमत्कारिक सिध्दियां प्राप्त भोली गूजरी कृष्ण के मदनमोहन स्वरूप की भक्त थी। ये मूलतः करौली के पास बुगडार गांव की थी।

7. संत ज्ञानमतिबाई – संत चरणदास की परम्परा के आत्माराम आश्रम की संत नारी ज्ञानमतिबाई जयपुर के पास गजगौर में रहती थी। इनकी 50 वाणियां प्रसिद्ध हैं।

8. संत रानी रूपांदे – भक्ति की निर्गुण परम्परा में रानी रूपांदे का महत्वपूर्ण स्थान है। रानी रूपांदे राव मल्लीनाथ की रानी थी। रानी रूपांदे के गुरू नाथजोगी उपगमसी भाटी थे। अख को पति रूप में स्वीकार कर ईश्वर के एकत्व का उपदेश दिया था। धारू इनके बाल सखा थे। देवी संत के रूप में रानी रूपांदे तोरल जेसल में पूजी जाती हैं।

9. संत रानी रत्नावती – भावगढ़ के महाराजा माधोसिंह की महारानी रत्नावती कृष्ण प्रेमोपासिका

थी। रानी रत्नावती के प्रभाव से ही महाराजा माधोसिंह व उनका पुत्र छत्रसिंह (प्रेमसिंह) भी वैष्णव हो गये थे।

10. संत गवरीबाई (गौरीबाई) – 'बागड़ की मीरा' के नाम से प्रसिद्ध संत गवरीबाई ने कृष्ण को पति स्वीकार कर कृष्ण भक्ति की थी। इनका जन्म विक्रमी संवत् 1815 में बागड़ के गिरपुर में एक नागर ब्राह्मण के यहां हुआ था। पाँच वर्ष की अवस्था में बाल विवाह होने के अवसर पर आँखों में पीड़ा होने के काण पट्टी बांधनी पड़ी थी। विवाह के आठ दिन पश्चात् उनके पति का देहान्त हो गया। उन्होंने ना तो पति को देखा और ना कुछ जाना अपितु उनका सदा निश्चय रहा कि "मेरा पति तो परमात्मा है। डूंगरपुर के महारावल शिवसिंह ने विक्रमी संवत् 1986 को गवरीबाई के प्रति श्रद्धास्वरूप बालमुकुन्द मन्दिर का निर्माण करवाया था। गवरीबाई ने अपनी भक्ति में हृदय की शुद्धता पर बल दिया था। विक्रमी संवत् 1860 में वे जयपुर गयी, जहाँ महाराजा प्रतापसिंह जी ने उनकी परीक्षा के लिए ठाकुर जी के मंदिर का पट बन्द करवा दिया और आग्रह किया कि वे श्री विग्रह के शृंगार का वर्णन करें तो मंदिर खुलेगा। भगवान के दर्शन किये बिना लौटना उचित न समझकर उन्होंने एक पद द्वारा प्रभु के शृंगार का वर्णन किया जिसमें मुकुट का वर्णन नहीं था, पट खोलने पर मुकुट गिरा हुआ पाया गया। जयपुर से आप वृन्दावन की यात्रा करके काशी पहुँची जहाँ के राजा सुन्दर सिंह ने आपका बड़ा सत्कार किया। अपने नरेश को समाधि मार्ग का उपदेश दिया। उन्होंने अपनी भाभी को अपनी मृत्यु का समय बताया। अपनी इच्छानुसार रामनवमी को मध्याहृन में संवत् 1865 में मधुवन में अपना शरीर छोड़ा। गौरीबाई एक रामभक्त साधु की शिष्या थी और स्वयं श्रीकृष्ण उपासिका थी। आपके लिए राम-कृष्ण में कोई भेद नहीं था। आपके पदों में योग के गुढ़ रहस्य, विशूद्ध अद्वैतवाद तथा प्रेम भक्ति का सुन्दर सामंजस्य है। आपके पद बड़े प्रेम से आज भी गाये जाते हैं।

11. संत भूरीबाई अलख – ये मेवाड़ की महान संत महिलाओं में गिनी जाती हैं। वर्तमान उदयपुर जिले के सादरगढ़ में जन्मी भूरीबाई नाराबाई के प्रभाव से वैराग्यमयी हो गई थी। भूरीबाई ने निर्गुण-सगुण भक्ति के दोनों रूपों को स्वीकारा था। भूरीबाई उदयपुर की अलारख बाई तथा उस्ताद हैदराबादी के भजनों से प्रभावित थी। भूरीबाई माया भील द्वारा बनाई कुटी में साधना करती थी।

12. संत समानबाई – माहुद (अलवर) के भक्त रामनाथ कविया की बेटी समानबाई कृष्ण उपासिका थी। इन्होंने आँखों पर पट्टी बांध कर कृष्ण साधना की थी।

13. ताज बेगम – फतेहपुर शेखावाटी (सीकर-राजस्थान) की कृष्ण भक्त संत नारी ताज बेगम को वल्लभ सम्प्रदाय की वैष्णव वार्ता उच्च स्थान प्राप्त हुआ है।

14. संत करमाबाई – वर्तमान अलवर जिले के गढ़ी मामोड की करमाबाई विधवा जीवन में कृष्णोपासिका बन गई एवं उन्होंने सिद्धावस्था प्राप्त की।

15. संत कर्मठीबाई – बागड़ के काथेरिया पुरूषोत्तम की पुत्री कर्मठीबाई ने गोस्वामी हित हरिवंश से दीक्षा ली थी। इन्होंने वृन्दावन में भक्ति साधना की थी। इनका उल्लेख रसिक अनन्य माल परचावली तथा भक्तगाथा इत्यादि ग्रन्थों में मिलता है।

16. संत जनखुसालीबाई – हल्दिया अखेराम की शिष्या जनखुसालीबाई ने अटल बिहारी मंदिर में साधना की थी। इन्होंने "सन्तवाणी" "गुरूदौनाव तथा 'अखैराम' संग्रह की रचना की थी। जनखुसालीबाई ने लीलागान तथा हिण्डोरलीला की मल्हार राग में रचना की थी। साधु महिमा तथा बन्धु विलास ग्रंथों में इनका यशोगान है।

17. संत रानी अनूप कुँवरी – ये किशनगढ़ के महाराजा कल्याण सिंह की बुआ थी। वृन्दावन में रहकर इन्होंने कृष्ण भक्ति को अपनाया तथा राजस्थानी एवं ब्रज में कृष्ण शृंगार, आत्मनिवेदन तथा राधाकृष्ण लीला के पदो की रचना की थी। रानी अनूप कुँवरी कृष्ण के नटनागर व बंशीधर रूप की भक्ति में रत थी। इन्हीं के साथ महाराजा प्रतापसिंह की

फतेह कुँवरी ने भी वृन्दावन में कृष्णभक्ति की थी।

18. संत करमाबाई – ये नागौर जिले के छोटी खाटू गाँव की रहने वाली थी और जाट जाति में जन्मी थी। करमा भगवान जगन्नाथ की भक्त कवयित्री थी। मान्यता है कि भगवान ने उनके हाथ से खीचड़ा खाया था।[9] उस घटना की स्मृति में आज भी जगन्नाथ पुरी में भगवान को खीचड़ा परोसा जाता है। राजस्थान का लोक जीवन इनकी भक्ति से आप्लावित हो आज भी इनका पूर्ण स्मरण करता रहता है। इनका यह भजन गाँव-गाँव में गाया जाता है –

थाली भर कर लाई रे खीचड़ो, ऊपर घी की बाटकी।

जीमो म्हारा श्याम धणी, जीमावे बेटी जाट की।।

19. रामभक्त पूलीबाई – आपके जीवन के सम्बन्ध में कुछ भी निश्चित रूप से प्राप्त नहीं होता है। कुछ विद्वानों के अनुसार जोधपुर के महाराजा जसवन्त सिंह ने पूलीबाई को धर्म बहिन बनाया था। पण्डित विश्वेश्वरनाथजी ने इनके बारे में लिखा है[10] कि शायद महाराज जसवंतसिंह ने आपसे विवाह करने का प्रस्ताव किया था, परन्तु पूलीबाई ने साफ इन्कार कर दिया था। इनके धर्म उपदेश अधिक प्रसिद्ध हुए हैं। पूली-जसवंत-संवाद नायक एक छोटी–सी पुस्तक भी मिली है। इसमें लगभग 64 दोहे, साखी और चौपाइयां हैं। पूलीबाई रामनाम की उपासिका थी। बड़ी अनन्य निष्ठा थी। पुली-जसवंत-संवाद से पूलीबाई के कुछ वचन वहां उद्धृत हैं।

जबलग साँस सरीर में, तबलग नाम अनेक । घट फूटे सायर मिले, पूली पूरण एक।।

राम नाम सत जानै भाई। या बिन जगमें झूठ सगाई।।

पूली परमानन्द जे परसे। अरस परस कहुँ दूज न दरसे।।

पतसूँ कारज सब सरे, पतसूँ उतरो पार। पूलीके पत बाहरो, सब झूठो सिणगार।।

राम बिना के कामको, सांखे जोग अभ्यास। पूली परमानन्द बिन, कूण पुरवै मन आस।।

जबलग पेट पीठ नहिं लागे। तबलग बिरह अगिन नहिं जागे।।

जबलग गाँव इक्कीस न छूटै। जोग कहंता हिवड़ो फूटै।।

पूली पन व्रत रामको, सतगुरू दीनों जोड़। अब परतक छाड़ैं नहीं, कला दिखावै कोड़।।

20. रानी सीता सहचरी – कबीर के गुरु भाई गागरोन के राजा संत पीपाजी के तपस्वी जीवन में सहायक उनकी सबसे छोटी रानी[11] सीता का नाम भी राजस्थान के अनतिख्यात संत महिलाओं में बताया जा सकता है। पीपाजी के अध्यात्म के उत्कृष्ट उदाहरणों में सीता सहचरी का उल्लेख मिलता है-

कृष्ण चले पहुँचाई के, पीपा लंघ्यो नीर। सीता जिनके संग है, टुकी न भीग्यो नीर।।

सीता सहचरी का मूल नाम पद्मावती बताया जाता है। वे टोडारायसिंह (टोक) के राजा सोलंकी की राजकन्या थी। इनका विवाह गागरोन नरेश प्रतापराव खींची (पीपाजी) के साथ सम्पन्न हुआ था। यह पति परायण, अतिथिसेवी, भक्तमति, परदुःखकातर संत थी। इनके जीवन के कई चमत्कारों का उल्लेख कल्याण के संत अंक एवं नारी अंक में मिलता है। साध्वी सीता सहचरी को अपने परलोक गमन का अभास हो गया था अतः विक्रमी संवत् 1433 के बैशाख मास में। टोडारायसिंह में एक स्थल को जल से शुद्ध कर वहीं उन्होंने समाधि ले ली। बाद में उसी स्थान पर एक सुन्दर छतरी का निर्माण कराया गया। यह स्थल टोंक जिला मुख्यालय से 50 किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। रामानन्दी सम्प्रदाय के भक्त तीर्थ स्वरूप इस स्थल की यात्रा करते हैं।

राजस्थान की इन अनतिख्यात महिला संतों के अतिरिक्त देश में अन्यत्र भी अनेक संत महिलाएं हुई जिन्होंने आध्यात्म की ऊँचाइयों को छूकर लोकमानस में प्रबल प्रतिष्ठा प्राप्त की। गुजरात में तपस्विनी गौरीबाई, योगिनी जनीबाई, मध्यप्रदेश में श्रीमाईबाई, ओरछा (बुन्देलखण्ड मध्यप्रदेश) में रानी गणेशदेई,

दक्षिण में मैसूर की संत शांतिबाई के अतिरिक्त सती बहिणाबाई नागबाई तथा परमयोगिनी मुक्ताबाई जैसी साधिकाओं ने न सिर्फ भक्ति आन्दोलन को एक उत्कृष्ट आयाम दिया अपितु कबीर जैसे युगद्रष्टा साधकों के दर्शन को अधूरा सिद्ध किया। इन अनतिख्यात संत महिलाओं से आज भी जनजीवन प्रेरणा पाकर प्रमुदित होता है।

सन्दर्भ

1. कबीर ने स्त्री को कामिनी बताते हुए अध्यात्म में इसे बाधा या अवरोधक माना है– (अ) एक कनक और कामिनी दुर्गम घाटी दोय। (ब) नारी की झाईं परत अन्धे होत भुजंग।........ नित नारी के संग।। 2. रानाबाई के वंशजों के राव उमरावसिंह बडवा, ग्राम महेन्दवास (फागी) हाल निवास मालपुरा की बही, रितु शर्मा के लेख मारवाड़ की नारी संत रानाबाईः एक ऐतिहासिक यात्रा, लिन्सिअन वाल्यूम–2 नम्बर-2 जुलाई 2009 अजमेर पृष्ठ सं० 153–156। 3. हरसारे के सुखसारण महाराज द्वारा संकलित "रानाबाई की परची" पद सं० 10। 4. प्रो० पेमाराम का 'राजस्थान में दूसरी मीरा भक्त शिरोमणि राना बाई' नामक शोध लेख पृष्ठ–2, भारत में सामाजिक परिवर्तन तथा धर्म सुधार आन्दोलन पर आधारित राष्ट्रीय सेमीनार इतिहास विभाग मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय उदयपुर जनवरी 2006। 5. कल्याण नारी अंक 22 वां वर्ष का विशेषांक पृष्ठ–695 गीता प्रेस गोरखपुर तेहरवाँ संस्करण 2000 ई०। 6. (अ) – परशुराम चतुर्वेदी संत काव्य पृष्ठ–452 किताब घर इलाहाबाद उत्तरी भारत की संत परम्परा पृष्ठ 287 भारती भण्डार प्रयाग 1972 ई०, (ब) – कल्याण नारी अंक पृष्ठ 724 पूर्वोक्त, (स) – कल्याण संत अंक : बारहवें वर्ष का विशेषांक पृष्ठ सं० 624, 8 वाँ पुनर्मुद्रण सन् 2000 ई०। 7. (अ) डॉ० झारखण्डे चौबे डॉ० कन्हैयालाल श्रीवास्तव मध्य युगीन भारतीय समाज एवं संस्कृति, पृष्ठ 390, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान लखनऊ, चतुर्थ संस्करण 2005 ई०, (ब) – परशुराम चतुर्वेदी : संत काव्य पृष्ठ 449,। (स) – कल्याण नारी अंक 724 पूर्वोक्त,। (द) – कल्याण संत अंक 644 पूर्वोक्त। 8. (अ) डॉ० दिनेश चन्द्र शुक्ल राजस्थान के प्रमुख संत एवं लोकदेवता, पृष्ठ 6–7 । राजस्थानी साहित्य संस्थान जोधपुर, 1992 ई०। (ब) मुहणौत नेणसी : नैणसी री ख्यात, भाग–2 पृष्ठ 57--72 ।मारवाड़ परगना री विगत भाग–1 पृष्ठ 54-55। (स) विश्वेश्वरनाथ रेऊ, मारवाड का इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ सं० 54, राजस्थानी ग्रंथागार जोधपुर प्रथम संस्करण 1940 पुनर्मुद्रण 1998। (द) शिवनाथसिंह राव : कूँपावत राठौडों का इतिहास पृष्ठ 51। 9. कल्याण नारी अंक : पृष्ठ सं० 692 — 693, पूर्वोक्त। 10. कल्याण संत अंक : पृष्ठ सं० 800, पूर्वोक्त। 11. (अ) कल्याण नारी अंक : पृष्ठ सं० 687–683, पूर्वोक्त संत अंक 510–11, । (ब) ललित शर्मा : संत पीपाजी, रामानन्द परम्परा के उद्गायक, पृष्ठ 61–63, श्री कावेरी शोध संस्थान, उज्जैन मध्यप्रदेश 2008 ई०,। (स) विक्रमसिंह गुंदोज : राजपूत नारियाँ, पृष्ठ 105 एवं 140, डॉ० कन्हैयालाल श्रीवास्तव डॉ० झारखण्डे चौबे : पूर्वोक्त पृष्ठ 390।

(इतिहास विभाग
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय झालावाड़
राज०), 2. D. 23, हाउसिंग बोर्ड कॉलोनी, झालावाड़,
(राज०)- 326001, मो०-09414403986

●

सूचना

कुछ अपरिहार्य कारणों से वैचारिकी के मई 2019 से दिसम्बर 2019 तक के अंक प्रकाशित नहीं हो सके, जिसका हमें खेद है। अब जनवरी-फरवरी 2020 से वैचारिकी के अंक नियमित प्रकाशित होते रहेंगे।

पत्रिका के वार्षिक सदस्यों को उनके पूरे अंक ही उपलब्ध होंगे।

भरतपुर क्षेत्र की शैव प्रतिमाएं

डॉ. उमराव सिंह

भारत की प्राचीन सिन्धु घाटी की सभ्यता के उत्खनित स्थलों में मिले लघु लिंगाकार पाषाणों का साम्य लिंग पूजा से बैठाया जाता है।[1] इसी भांति दो अलग-अलग मिट्टी की मुहरों पर भी शिवांकन दर्शित होते हैं। एक मुहर पर बनी त्रिशीष आसनस्थ प्रतिमा के शीष पर सींगदार मुकुट है एवं इसको बाघ, भैंसा, हाथी, गेंडा और एक मनुष्य घेरे हुए है।[2] इसे पशुपति शिव के रूप में अभिहीत किया जाता है। इसी प्रकार त्रिशीष शिव के दर्शन हमें उत्तर-पश्चिम भारत की मूर्तियों तथा कुषाणों के सिक्कों पर भी होते हैं। दूसरी मुहर पर नागधारी योगीश्वर शंकर का अंकन है।[3] इसका तादात्म्य भी शिव से ही किया गया है। राजस्थान के कालीबंगा पुरास्थल से मृण्मय शिवलिंग मिला है।[4] यह लगभग 4500 वर्ष पुराना आरम्भिक शिवलिंग हडप्पायुगोत्तर (Post Harappan civilization) का है।

ऋग्वेद में रुद्र का उल्लेख मिलता है, शिव का नामोल्लेख नहीं आता परन्तु पाणिनी के समय तक आते-आते रुद्र, शिव, पार्वती, रुद्राणी, भवानी आदि की प्रतिष्ठा हो गई थी। महाभारत काल में शिव अराधना के कई दृष्टांत मिलते हैं। हड़प्पा सभ्यता के पतन और मौर्य साम्राज्य के अभ्युदय के मध्य की अवधि में मूर्ति निर्माण परम्परा में ऐसा अन्तराल आ जाता है जिसे स्पष्ट नहीं किया जा सकता तथापि तीसरी शताब्दी ई०पू० से कलात्मक गतिविधियों में निरन्तरता आ गई। भीटा से मिले उत्तर मौर्यकालीन लेखांकित शिवलिंग पर शिव की द्विमुख अनाभि प्रतिमा मिलती है।[5] उत्तर भारत की शिव प्रतिमाओं में भीटा की यह अनाभि मूर्ति प्राचीनतम है। ग्राम-गुरारा (खण्डेला) से मिली 5–6 वीं शती ई०पू० के कतिपय पंचमार्क सिक्कों पर भी शिव का अंकन है।[6] कुषाण शासकों के सिक्कों पर शिव का पूर्णरूपेण अंकन मिलता है।[7] राजकीय संग्रहालय भरतपुर में संरक्षित कुषाणकालीन सिक्कों के पृष्ठ भाग पर भी शिवांकन उपलब्ध है।[8]

भरतपुर क्षेत्र में शिव प्रतिमाओं से पूर्व कई स्थानों से यक्ष प्रतिमाएं मिली हैं। इन प्रतिमाओं का शिल्पीय महत्व अत्यधिक है। भरतपुर से 06 कि.मी. दूरस्थ नोह पुरास्थल है। यहाँ पर मेरूवर्णी मृदपात्र, अचित्रित काले एवं लाल मृदपात्र, चित्रित धूसर मृदभाण्ड एवं परिमार्जित कृष्ण मृदपात्र और मृण्मूर्तियां उल्लेखनीय संख्या में उत्खनन द्वारा प्राप्त हुई हैं।[9] यहीं मौर्यकाल से गुप्तकाल तक की प्रतिमाएं भी मिली हैं। नोह प्राचीन काल में मूर्तिशिल्प का प्रमुख केन्द्र था,

यहाँ एक तालाब के किनारे शुंगकालीन यक्ष प्रतिमा पूजान्तर्गत है। इस क्षेत्र में यक्ष रक्षक लोकदेवता के रूप में पूजित हैं। यक्ष की यह प्रतिमा मथुरा संग्रहालय में प्रदर्शित परखम के यक्ष से समतुल्य है। नोह से प्राप्त एक तत्कालीन प्रतिमा राजकीय संग्रहालय भरतपुर में भी प्रदर्शित है। बीरावाई की प्रथम शती ई०पू० की यक्ष प्रतिमा भी उल्लेखनीय है। इस मूर्ति के बायीं ओर कमर पट्टे से कटार लटकती हुई द्रष्टव्य है, जो वीर पुरुष का संकेत देती है। इस क्षेत्र में सोगर, अधापुर, पीरनगर और दारापुर से भी यक्ष प्रतिमाएं मिली हैं।

नोह से आगे गामरी नामक गाँव में आधुनिक शिव-पार्वती मंदिर के सामने बरगद के पेड़ के नीचे कुछ प्राचीन प्रतिमाओं के साथ एक शिवलिंग उपलब्ध है। यह लगभग आयताकार है। इसकी ऊँचाई 44 सेमी. एवं तल भाग से लम्बाई 28 सेमी. है।[10] समतल भाग में एक ओर यक्ष एवं दूसरी तरफ स्थानक शिव का रूपांकन है। दोनों आकृतियों की ऊँचाई 28 सेमी. है। यक्ष का उदर स्थूल है। गामरी का शिवलिंग ऐसी स्थिति का बोध कराता है जब तत्कालीन जनमानस यज्ञ पूजा से शिव पूजा की ओर अग्रसर हो रहा था। कुषाणकालीन यह शिवलिंग आस्था पूजा के परिवर्तन के संक्रमण काल का द्योतक है। इसके पास एक अन्य शिवलिंग भी विद्यमान है इस पर अंकन का सर्वथा अभाव है। इसका तल भाग चौकोर एवं ऊपरी भाग अष्टकोणीय है। भरतपुर से आगरा सड़क मार्ग पर लगभग 14 किमी. दूर उत्तर-प्रदेश सीमा में चौमूं–बंडपुरा नामक गाँव अवस्थित है। इस गाँव में आधुनिक शिवालय में एक विलक्षण शिवलिंग स्थापित है। इसकी ऊँचाई 100 सेमी. एवं परिधि 92सेमी. है। लाल-बलुआ पत्थर पर उत्कीर्ण इस शिवलिंग के ऊपरी भाग पर कदाचित् सिंह चर्म उत्कीर्ण है। प्रसिद्ध पुराविद् रत्न चन्द्र अग्रवाल ने इसे कमलमाला माना है।[11] जबकि चर्म नक्षत्र स्पष्ट दिखलाई पड़ते हैं। नीचे बेलनाकार अमृतघट, यक्ष, शेर और स्त्री शीर्ष का सुन्दर अंकन है। भारतीय कला में ऐसा अंकन अज्ञात है। यह कुषाणकालीन शिवलिंग ऐसी स्थिति प्रस्तुत करता है जब यक्ष का स्थान गौण हो गया था तथा शिव प्रधान हो गया था। इस शिवलिंग के निकट एक अन्य गुप्तकालीन शिवलिंग भी प्रतिष्ठापित है। इसकी ऊँचाई 23.5सेमी. व परिधि 38 सेमी. है। इसके नीचे के भाग पर पत्रालंकरण उत्कीर्ण है। गामरी एवं चौमूं-बंडपुरा के शिवलिंग अंकन से यह स्पष्ट होता है कि कुषाण काल के अवसान के साथ-साथ यक्ष पूजा का स्थान शिव अराधना ने ले लिया।

शिवलिंग, गामरी (राजस्थान) कुषाण काल

राजस्थान के विभिन्न क्षेत्रों में गुप्तकाल में देवालयों का निर्माण हुआ। भरतपुर क्षेत्र में भी मूर्तिशिल्प एवं वास्तुखण्डों के रूप में इनके प्रमाण मिलते हैं। जिले का कामां क्षेत्र मंदिर निर्माण की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। कामां में एक चौरासी खम्भा नामक प्राचीन मंदिर है। एक स्तम्भ पर नमः शिवायः अभिलिखित है जो शैव मंदिर का संकेत प्रदान करता है। अभिलेख की लिपि आठवीं शताब्दी की प्रतीत होती है। इसके अतिरिक्त एक अन्य स्तम्भ अभिलेख से वैष्णव मंदिर के निर्माण का आभास होता है।[12] कामां के दो गुप्तकालीन चतुर्मुख शिवलिंग (संख्यक 15 व 16) और दो शिव-पार्वती विवाह फलक (संख्यक 12 व 13) राजकीय संग्रहालय अजमेर में सुरक्षित हैं।[13]ये प्रतिमाएं कामां में गुप्तकालीन देवालयों की विद्यमानता की पुष्टि करती हैं। संख्यक 16 पर चतुर्देवों की आसन प्रतिमाएं अर्द्ध

उकडू (squat) बैठे हुए हैं। जबकि संख्यक 15 के शिवलिंग पर चतुर्देव स्थानक रूप में है ऊपरी पंग्वि (tier) में चतुर्मुख हैं जो सद्योजाता, वामदेव, अघोर और तत्पुरुष का प्रतिनिधित्व करते हैं।[14] उत्तर की ओर का मुख स्त्री मुख है जो उमा का प्रतीक है अन्य मुख रुद्र स्वरूप हैं। कामां में कामेश्वर महादेव का मंदिर है। यह मंदिर ध्वस्त हो जाने कारण इसके स्थान पर आधुनिक मंदिर बनवा दिया गया है। मूल मंदिर 10वीं शताब्दी का था। गर्भगृह में स्थापित शिवलिंग मूल मंदिर का है। मंदिर परिसर में कुछ प्रतिमाएं विद्यमान हैं, इनमें उमा–महेश्वर, नंदी, शिवशीष, शिवलिंग और भैरव की प्रतिमाएं उल्लेखनीय हैं।

भरतपुर तहसील के गाँव मलाह में मिली गुप्तकालीन मूर्तियां शैव मंदिर की विद्यमानता को संकेतित करती हैं। यहाँ से प्राप्त राजकीय संग्रहालय भरतपुर में प्रदर्शित 9वीं शती ई० के शिवालय की धरणी (संख्यक 28) भी ऐसा ही संकेत देती है। रूपवास से अवाप्त पूर्व मध्यकालीन चार स्तम्भ शीर्षों पर शिवशीष का अद्भुत अंकन है, नीचे अनुप्रस्थ पट्टिकाओं पर भी बहुधा शैव विषयक अंकन है। ये प्रस्तर स्तम्भ शैव मंदिरों के निर्माण का निदर्शन करते हैं। भरतपुर की नदबई तहसील का गाँव कटारा प्राचीन टीले पर बसा है। यहाँ पर मंदिर स्थापत्य के अवशेष प्राप्त होते हैं।[15] यहाँ 8वीं शती ई०से 14वीं शताब्दी तक के मंदिर विद्यमान थे। निश्चय ही इनमें कतिपय शैव मंदिर भी थे। राजकीय संग्रहालय अजमेर में यहाँ की प्रतिमाएं संरक्षित हैं। इनमें शिव–पार्वती की आंलिगन मूर्ति (संख्यक 288 व 289)[16] मध्यकाल का प्रतिनिधित्व करती हैं।

धौलपुर जिलान्तर्गत वसेडी नामक गाँव में पार्वती नदी के वाम तट पर भूतेश्वर महादेव मंदिर है। प्राचीन मंदिर के स्थान पर आधुनिक देवालय निर्मित है। मंदिर में 10वीं शताब्दी का शिवलिंग पूजान्तर्गत है। कतिपय तत्कालीन प्रतिमाएं मंदिर परिसर में उपलब्ध हैं। मंदिर परिसर की दीवार में जड़ी तपस्यारत पार्वती की प्रतिमा उल्लेखनीय है। चतुर्हस्त पार्वती स्तम्भयुक्त ताक में खड़ी है, निम्न वाम हस्त में कुंडिका है, शेष हाथों के आयुध तेल सिन्दूर लगा दिए जाने के कारण स्पष्ट दिखलाई नहीं देते हैं। प्रतिमा के निम्न दक्षिण भाग में सिंह है जबकि वाम भाग में मृग समुस्थित है। देवी का वाहन सिंह रोद्र एवं मृग सौम्य स्वरूप का परिचायक है। पार्वती तपस्यारत मुद्रा में है। पार्वती की यह स्वतंत्र प्रतिमा विलक्षण है तथा राजस्थान की मूर्तिकला में दुर्लभ है।

तिमनगढ़ करौली जिला मुख्यालय से लगभग 42किमी० की दूरी पर है। ऐतिहासिक साक्ष्यों के अनुसार यदुवंशी शासक तिमनपाल ने इस दुर्ग का निर्माण करवाया था।[17] इस दुर्ग में 10वीं से 11वीं शताब्दी के अनेक मंदिरों के ध्वंसावशेष हैं। निश्चय ही इन मंदिरों में कुछ मंदिर शैव मंदिर भी रहे होंगे। इन मंदिरों की कतिपय प्रतिमाएं भरतपुर संग्रहालय में संरक्षित हैं। ये प्रतिमाएं लाल प्रस्तर पर निर्मित हैं।

भारत में शैव प्रतिमाओं का निर्माण द्वितीय-प्रथम शताब्दी ई. पू. से शुंग काल से होता है जब मथुरा एक कला केन्द्र के रूप में विकसित हो रहा था। कुषाणकालीन प्रतिमाओं पर गंधार कला का प्रभाव भी परिलक्षित होता है। भरतपुर क्षेत्र के विभिन्न भागों से प्राप्त प्रतिमाएं राजकीय संग्रहालय भरतपुर में सुरक्षित है। इन प्रतिमाओं का कालक्रमानुसार शिल्पांकन अधोलिखित हैं। अधिकांश प्रतिमाएं लाल अथवा भूरे बलुआ प्रस्तर की हैं।

1 एकमुखी शिवलिंग–प्रारावस्तु क्रमांक 52 पर दर्ज, अघापुर से अवाप्त, कुषाणकाल, माप 152×29 सेमी० एकमुखी शिवलिंग के शीर्ष भाग पर उष्णीष का अंकन द्रष्टव्य, भारतीय शिल्प की महत्वपूर्ण कलाकृति है।

2 एकमुखी शिवलिंग – पुरावस्तु क्रमांक 191 पर दर्ज, अघापुर से अवाप्त, कुषाणकाल, माप 60×22 सेमी. खण्डित शिवलिंग का ऊपरी भाग जिस पर शिवशीष उत्कीर्ण, प्रतिमा का सतही भाग क्षतिग्रस्त।

3 एकमुखी शिवलिंग – पुरावस्तु क्रमांक 192 पर दर्ज, अघापुर से अवाप्त, कुषाणकाल, माप 30×28 सेमी. शिवलिंग का केवल ऊपरी भाग जिस पर एकमुखी शीष अत्यधिक क्षतिग्रस्त है।

4 शिवशीष–पुरावस्तु क्रमांक 63 पर दर्ज, मलाह से अवाप्त, गुप्तकाल, माप 74. 9×61 सेमी. दक्षिणवर्ती खण्डित वास्तुखण्ड के चैत्य गवाक्ष में शिवशीष का सुन्दर चित्रण, भाल पर तीसरा नेत्र द्रष्टव्य, केशसज्जा के रूप में बालों की लटों (hair locks) का सुन्दर अंकन, इसे ग्रीक प्रभाव के रूप में देखा जाता है। तीन आँखें हैं सूर्य, चन्द्रमा एवं अग्नि की पर्याय मानी जाती हैं।

5 शिव–पार्वती विवाह फलक (शीष भाग खण्डित)–पुरावस्तु क्रमांक 57 पर दर्ज, नोह से अवाप्त, गुप्तकाल, माप 8×63.5 सेमी. शिव, पार्वती वस्त्राभूषणों से सुसज्जित, पाणिग्रहण का दृश्य, मध्य में त्रिमुखी ब्रह्मा मानवीकृत अग्नि को आहुति देते हुए चित्रित, नीचे दक्षिण भाग में ढोलवादक और ऊपर लक्ष्मी जिसके वाम हस्त में कमल द्रष्टव्य, सबसे ऊपर खण्डित मानवाकृति का केवल पाद भाग द्रष्टव्य, वाम ओर निम्न भाग में स्त्री आकृति सुखासन में विराजमान, ऊपर विष्णु का वनमाला सहित चित्रण सबसे ऊपर शीर्षविहीन मानवाकृति।

6. शिवलिंग – पुरावस्तु क्रमांक 5 पर दर्ज, भरतपुर से प्राप्त, गुप्तकाल, माप 55.9×20.3 सेमी. शिवलिंग के चौकोर भाग के ऊपर रत्नाभूषण जटाजूटयुक्त शिव शीर्ष का अद्भुत अंकन, शिव के लम्बे कुण्डल द्रष्टव्य।

7. उमा–महेश्वर–पुरावस्तु क्रमांक 297 पर दर्ज, कामां से प्राप्त, 8वीं शती ई. माप 116.8×86 3 सेमी. उमा महेश्वर की वाम उरू पर बैठी हुई शिव की ओर उन्मुख, चतुर्हस्त शिव नंदी पर आरूढ, निम्न दक्षिण हस्त उरू पर है, ऊपरी खण्डित दक्षिण हस्त में अक्षमाला दिखलाई पड़ती है जबकि ऊपरी वाम हस्त में त्रिशूल और निम्न वाम हस्त उमा के वाम स्कन्ध पर, जटाओं के समीप सर्पाकृति, नीचे के दक्षिणवर्ती भाग पर गणेश और उसके निकट शिवगण, मध्य में नंदी के सामने भृंगी ऋषि जबकि वामवर्ती भाग पर कार्तिकेय मयूर पर आसीन, इसके ऊपर दोनों ओर स्थानक शिवगण, उसके ऊपर मध्यवर्ती भाग पर दोनों तरफ चंवरधारिणी, उसके ऊपर गंधर्व युगल एवं पुष्पालंकरण उत्कीर्ण, मूर्तिफलक के ऊपरी भाग पर ब्रह्मा एवं विष्णु के मध्य बने चार शिवलिंगों की अराधना करते हुए अराधक चित्रित। शिल्प सौष्ठव की दृष्टि से यह श्रेष्ठ कलाकृति है।

8. शिव–पार्वती–पुरावस्तु क्रमांक 183 पर दर्ज, सतवास से अवाप्त, उत्तर गुप्तकाल, माप 32.4×40.6 सेमी. कटि से निम्न भाग अप्राप्य, शिव के दोनों ऊपरी हाथों में क्रमशः त्रिशूल एवं सर्प का अंकन, पार्वती के शीर्ष पर धम्मिला मुकुट एवं वाम हस्त में दर्पण द्रष्टव्य, शीर्ष के पीछे में पद्मदलयुक्त प्रभावलय रूपांकित।

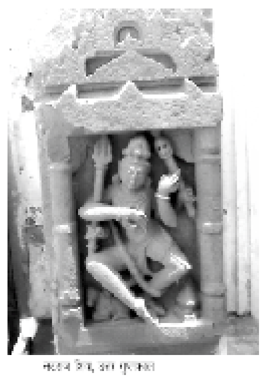
नटराज शिव, उत्तर गुप्तकाल

9. नटराज शिव–पुरावस्तु क्रमांक 6 पर दर्ज, मलाह से प्राप्त, उत्तर गुप्तकाल, माप 142×58 सेमी. चतुर्हस्त, ताण्डव नृत्य करते हुए, ऊपरी हाथों में क्रमशः त्रिशूल और खट्वांग आयुध, गले की नरमुण्ड माला जंघा भाग तक लटकती हुई द्रष्टव्य, नीचे दायीं ओर नंदी तथा बायीं ओर अग्निपुंज उत्कीर्ण।

10. शिवशीष–पुरावस्तु क्रमांक 307 पर दर्ज, कामां से प्राप्त 8वीं शती ई. माप 16×7 सेमी. शीष पर जटाजूट उत्कीर्ण।

बटुक भैरव, 8वीं शती ई.

11. बटुक भैरव–पुरावस्तु क्रमांक 14पर दर्ज, भरतपुर से प्राप्त, काल 8वीं शती ई. माप 68.6×40.6 सेमी. चतुर्हस्त, नग्न खड़े हुए,

दक्षिणवर्ती एक हाथ में खड्ग जबकि वामवर्ती एक हाथ में खण्डित खट्वांग, घुटनों से नीचे तक लटकती मुण्डमाला, गले में माला रूप में वस्त्र बंधा हुआ, शीर्ष पर खड़े केश भयावह रूप से उत्कीर्ण, नीचे लेटी मानवाकृति हाथ जोड़े हुए दिखलाई पड़ती है। भैरव शिव की संहारक शक्ति है। विष्णुधर्मोत्तरपुराण के वर्णितानुसार शिवलिंग का दक्षिण मुख भैरव का माना जाता है।[18] यह अघोर मुख भी कहलाता है। भैरव तांत्रिकों के देवता भी हैं।[19]

12. शिव-पार्वती - पुरावस्तु क्रमांक 233 पर दर्ज, रूपवास से अवाप्त, पूर्व मध्यकाल, माप 64.7×48.2×20.2 सेमी. शीष भाग क्षतिग्रस्त, नंदी आरूढ़ शिव की वाम उरू पर पर्वती बैठी हुई, नीचे दायीं ओर गणेश और ऊपर परिचारक, वाम भाग पर दो स्थानक परिवारक। रूपवास से ही प्राप्त समकालीन शिव–पार्वती की स्थानक प्रतिमा (संख्यक 231) अपरिष्कृत (unfinished) है।

13. पार्वती – पुरावस्तु क्रमांक 271 पर दर्ज, बयाना से प्राप्त, काल 10 वीं शती ई. माप 355×28×13 सेमी. वाहन सिंह पर ललितासना शिशु--क्रोडा देवी, दायीं ओर स्तम्भयुक्त ताक में स्थानक परिचारक और बाह्य भाग में पुष्प लता अलंकरण।

14. नृत्यरत शिव–पुरावस्तु क्रमांक 399 पर दर्ज, करौली से अवाप्त, काल प्रारम्भिक 10 वीं शती ई. माप 67×65 सेमी. चतुर्हस्त नृत्यरत शिव के दो हाथों में डमरू एवं त्रिशूल आयुध, बायीं ओर नीचे वाहन नंदी उत्कीर्ण।

15. नृत्यरत शिव–पुरावस्तु क्रमांक 398 पर दर्ज, करौली से अवाप्त, काल प्रारम्भिक 10 वीं शती ई. माप 69×63 सेमी. चतुर्हस्त, भाल पर तीसरे नेत्र का अंकन, निम्न दक्षिण हस्त में त्रिशूल, ऊपरी वाम हस्त में कपाल धारित, नीचे बायीं ओर शिवगणों का सुन्दर अंकन।

16. शिवशीष–पुरावस्तु क्रमांक 409 पर दर्ज, धनुकापुरा (बाड़ी) से अवाप्त, काल 10 वीं शती ई. माप 15.2×12.7 सेमी. जटामुकुट एवं कर्णाभूषणों का अंकन।

17. शिव–पुरावस्तु क्रमांक 412 पर दर्ज, धनुकापुरा (बाड़ी) से अवाप्त, काल 10–11 वीं शती ई. माप 16.5×22.8 सेमी. नृत्यरत शिव का कटि से नीचे का भाग अप्राप्य, दक्षिणवर्ती एक हाथ अभय मुद्रा में दूसरे में त्रिशूल जबकि वामवर्ती हस्त खण्डित।

18. शिव–पुरावस्तु क्रमांक 429 पर दर्ज, तिमनगढ (करौली) से प्राप्त, काल 10–11वीं शती ई. माप 60×27 सेमी. स्थानक शिव का दक्षिणवर्ती निम्न हस्त वरद मुद्रा में व ऊपरी हाथ में डमरू जबकि वामवर्ती हाथों में क्रमशः खटवांग और अस्पष्ट आयुध, घुटनों तक वनमाला द्रष्टव्य, ताक के ऊपरी अलंकृत भाग में रत्नाकृतियां रूपांकित।

19. शिव-पुरावस्तु क्रमांक 438 पर, तिमनगढ (करौली) से प्राप्त, काल 10–11वीं शती ई. माप 102×33 सेमी. चतुर्हस्त में क्रमशः वरद मुद्रा, त्रिशूल, सर्प और कमण्डलु उत्कीर्ण, वनमाला पूर्वोक्त की भाँति द्रष्टव्य।

20. चतुर्हस्त शिव–पुरावस्तु क्रमांक 630 पर दर्ज, बयाना से अवाप्त, काल 11–12वीं शती ई. माप 35.5×30.5 सेमी. ललितासना, हाथ क्रमश अक्षमालायुक्त वरदस्त, त्रिशुल, सर्प और जलपात्र युक्त।

21. भैरव–पुरावस्तु क्रमांक 626 पर दर्ज, बयाना से प्राप्त, काल 11 वीं शती ई. माप 33×17.8 सेमी. हाथों में खटवांग (?) और कपाल आयुध, नीचे वाहन श्वान का अंकन।

22. नटराज शिव–पुरावस्तु क्रमांक 667 पर दर्ज, करौली से प्राप्त, काल 11 वीं शती ई. माप 71.5×67.5×19 सेमी. चतुर्हस्त, दोनों ओर के हाथों में क्रमशः खप्पर और त्रिशूल शेष दो हाथ खण्डित, नीचले वाग भाग में मृंदगवादक और बाह्य तरफ शार्दूल।

23. माहेश्वरी-- पुरावस्तु क्रमांक 668 पर दर्ज, करौली से अवाप्त, काल 11 वीं शती ई. माप

70×68.5×22.5 सेमी. चतुर्हस्त, हाथ क्रमशः अभय मुद्रा, खटवांग, दर्पण और कमण्डलु लिए हुए उत्कीर्ण। शिल्प सौष्ठव की दृष्टि से अनुपम कलाकृति है।

24. नटराज शिव–पुरावस्तु क्रमांक 669 पर दर्ज, करौली से प्राप्त, काल 11 वीं शती ई. माप 63×72×18 सेमी. चतुर्हस्त, गले में सर्प द्रष्टव्य, दक्षिणवर्ती दोनों हाथों में त्रिशूल, वामवर्ती ऊपरी हस्त में कपाल और निम्न हस्त उरू भाग पर स्थित, नीचले भाग में दायीं ओर नृत्यरत पुरुषाकृति।

25. भैरव–पुरावस्तु क्रमांक 575 पर दर्ज, बयाना से अवाप्त, काल 11–12 वीं शती ई. माप माप 41.5×20 सेमी. स्थानक, दोनों हाथों में उत्तरीय का प्रदर्शन, नीचे पार्श्व में वाहन श्वान का अद्‌भुत अंकन।

26. शिव–पुरावस्तु क्रमांक 587 पर दर्ज, बयाना से अवाप्त, 11–12 वीं शती ई. माप 49.5×39×12 सेमी. शिव के दोनों हाथों में क्रमशः त्रिशूल और सर्प का अंकन, प्रतिमा फलक के दोनों ओर ऊपर व निचले पार्श्व भागों में विभिन्न मुद्राओं में मानवाकृतियां।

27. आसनस्थ शिव–पुरावस्तु क्रमांक 367 पर दर्ज, हिन्डौन (करौली) से अवाप्त, काल 11–12 वीं शतीं ई. माप 45×30×80 सेमी. चतुर्हस्त, दक्षिण पाद उरू से खण्डित, वामवर्ती ऊपरी हस्त में सर्प दृष्टिगोचर।

28. शिव–पुरावस्तु क्रमांक 377 पर दर्ज, हिन्डौन (करौली) से प्राप्त, काल 12 वीं सती ई. माप 45×25×10 सेमी. चतुर्हस्त, ललितासन विराजमान, हाथों में क्रमशः अक्षमाला, त्रिशूल (खण्डित) सर्प और कमण्डलु द्रष्टव्य, शीष पर रत्नाभूषणयुक्त जटाजूट रूपांकित।

29. आसनस्थ शिव– क्रमांक 380 पर दर्ज, हिन्डौन (करौली) से प्राप्त, 11–12 वीं शती ई. माप 45×21×11 सेमी. सुखासन में विराजमान, एक हाथ में कमण्डलु, शेष तीन हाथ खण्डित।

30. शिव–पुरावस्तु क्रमांक 253 पर दर्ज, बयाना से अवाप्त, काल 11–12 वीं शती ई. माप 30×35 सेमी. वाहन नंदी पर सुखासन में विराजमान (कटि से ऊपरी भाग अप्राप्य) वाम ओर स्थानक गणेश की लघु आकृति। नंदी के समीप भी मानवाकृति।

31. शिव–पुरावस्तु क्रमांक 386 पर दर्ज, हिन्डौन (करौली) से प्राप्त, काल 11–12 वीं शती ई. माप 42×21×10.5 सेमी. ललितासन चतुर्हस्त शिव के ऊपरी हाथों में त्रिशूल और सर्प (खण्डित) द्रष्टव्य, निम्न हस्त खण्डित।

32. शिव-पार्वती - क्रमांक 578 पद दर्ज, बयाना से प्राप्त, काल 12 वीं शती ई. माप 46×30×11 सेमी. शीषविहीन शिव नंदी आरूढ़, वाम जंधा पर पार्वती अलिंगनबद्ध, दोनों ओर क्रमशः गणेश और कार्तिकेय।

33. उमा–महेश्वर–पुरावस्तु क्रमांक 677 पर दर्ज, मुचकुण्ड (धौलपुर) से अवाप्त, काल 12 वीं शती ई. माप 34×36.5×11 सेमी. स्थानक, परस्पर आलिंगनबद्ध चतुर्हस्त एक हाथ में त्रिशूल का अंकन, कटि से नीचे का भाग अप्राप्य, प्रतिमा फलक के ऊपरी दक्षिणवर्ती भाग में कार्तिकेय मयूर के साथ द्रष्टव्य जबकि वामवर्ती भाग में गणेश आकृति खण्डित।

34. स्थानक शिव–पुरावस्तु क्रमांक 372 पर दर्ज, करौली से प्राप्त, काल 12–13 वीं शती ई. माप 40×19×11 सेमी. चतुर्हस्त, हाथों में अक्षमाला, त्रिशूल एवं कमण्डलु का सुन्दर अंकन, वाम पाद जंघा भाग से खण्डित।

35. शिवगण–पुरावस्तु क्रमांक 62 पर दर्ज, तुईया सोगर (भरतपुर) से अवाप्त, 14वीं शती ई. माप 43.20×35 सेमी. द्विहस्त, दक्षिण हस्त उरू पर जबकि वाम हस्त में खटवांग, ताक के बायीं ओर बाह्य भाग में नदी देवी गंगा का अलौकिक अंकन।

36. नृत्यरत भैरव–पुरावस्तु क्रमांक 96 पर दर्ज, भरतपुर से अवाप्त, काल 14वीं शती ई. माप 36×26.5 सेमी. क्षतिग्रस्त दक्षिण अभय मुद्रा से जबकि वाम हस्त दण्ड लिए हुए उत्कीर्ण, कानों में लम्बे कुण्डल द्रष्टव्य, लघु ताक के ऊपर चैत्याकृतियाँ उत्कीर्ण।

37. पार्वती–पुरावस्तु क्रमांक 540 पर दर्ज, भरतपुर से अवाप्त, काल 17–18 वीं शती ई. श्वेत संगमरमर प्रतिमा का माप 31×19×10 सेमी. चतुर्हस्त, दोनों ओर के ऊपरी हाथों में कमलाकृतियों के मध्य शिवलिंग और गणेश का क्रमशः अंकन जबकि निचले दोनों हाथ खण्डित, नीचे दोनों ओर शिवगण।

विवेच्य शिव प्रतिमाओं में अधिसंख्य चतुर्भुजी हैं। राजा भोज ने शिव प्रतिमाओं की चर्चा करते हुए लिखा है कि शासक को अपनी राजधानी में द्विभुज शिव की प्रतिष्ठापना करनी चाहिए। छोटे नगर में चतुर्भुजी शिव तथा श्मशान या जंगल में बीसभुजी शिव मूर्ति का विधान होना चाहिए।[20] संभवतः यहाँ छोटे नगर होने के कारण चतुर्भुजी मूर्तियों का अधिक निर्माण किया गया।

भरतपुर क्षेत्र के विभिन्न स्थानों से मिली ये प्रतिमाएं उन स्थानों पर मंदिर निर्माण के साक्ष्य प्रस्तुत करती हैं। विवेच्य प्रस्तर शिल्प के अनुशीलन से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि शुंग, कुषाणकाल से मध्यकाल तक शैव धर्म का यहाँ व्यापक प्रचार-प्रसार हुआ।

संदर्भ

1. मार्शल, मोहनजोदडो एंड इंडस सिविलाइजेशन, भाग-1 पृ. 59। 2. (क) मार्शल, पूर्वोक्त, पृ. 52, प्लेट 12। (ख) वासुदेव शरण अग्रवाल, भारतीय कला, पृ. 38 चित्र सं. 44, प्लेट 11 । 3. वी.सी पाण्डेय, प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास भाग-1. पृ.74 । 4. कालीबंगा उत्खनन रिपोर्ट। 5. लखनऊ संग्रहालय, संख्या एच–4। 6. जफर उल्लाह खां, पुरा–सम्पदा, अंक–2, वर्ष 2010, पृ.53। 7. (क) नीलकण्ड पुरुषोतम जोशी, प्राचीन भारतीय मूर्तिविज्ञान, पृ. 28–30, रेखाचित्र 3–8। (ख) ग्रिटली वान मित्तरवालनेर, कुषान कॉइन ऐण्ड स्कल्प्चर, पृ. 1–49। 8. कैटलॉग ऐण्ड गाइड टू स्टेट म्यूजियम, भरतपुर (राजस्थान) पृ. 36। 9. रिसर्चर, बुलेटिन ऑफ दि राजस्थान आर्कियोलाजी एण्ड म्यूजियमस, अंक 12–13 पृ. 71–72, 87–89.95–97 वर्ष 1972–73। 10. आर. सी. अग्रवाल, कुषान शिवलिंग फ्राम राजस्थान, रिदम् ऑफ् हिस्टरि भाग–1, वर्ष 1973–74, पृ. 9। 11. वही, पृ. 8। 12. नीलिमा वशिष्ठ, राजस्थान की मूर्तिकला परम्परा, पृ. 48। 13. यू.सी भट्टाचार्य, कैटलॉग एण्ड गाइड टू राजपूताना म्यूजियम अजमेर, राजस्थान पृ.15-18. प्लेट 1–4। 14. विष्णुधर्मोत्तर पुराण 3, अध्याय 48 तथा रूपमण्डन के वर्णितानुसार। 15. फरवरी 2011 में लेखक द्वारा निरीक्षण किया गया था। 16. यू.सी० भट्टाचार्य, पूर्वोक्त, पृ. 18–19। 17. चन्द्रमणि सिंह, सुजस, यदुवंशियों के किले पृ. 26–27 । 18. बजेन्द्रनाथ शर्मा, आइकानग्राफी ऑफ् सदाशिव। 19. (क) विधा देहेजा, योगिनी कल्ट ऐण्ड टेम्पल ए तांत्रिक ट्रेडिशन, नई दिल्ली 1986 पृ. 40 । (ख) उमराव सिंह, गणेश बेरवाल, रिसर्चर अंक 20, वर्ष 2006–07. पृ. 76 । 20. कृष्णदत्त वाजपेयी, भारतीय वास्तुकला का इतिहास, पृ. 134।

अधीक्षक, पुरातत्व एवं संग्रहालय विभाग,
कोटा वृत भरतपुर, कोटा-324001

●

लेखकों से विनम्र अनुरोध

कृपया अपना संक्षिप्त आलेख डाक से तथा यथासंभव टाईप करवाकर (यूनीकोड फौंट में) हमारे ई-मेल bvm.vaichariki@gmail.com पर भेजें। - संपादक

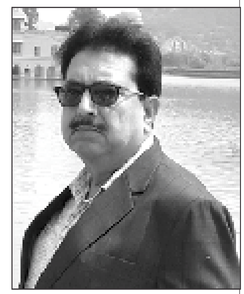

रूहेलखण्ड : नामकरण और विस्तार

शराफ़त अली खान

मुग़ल बादशाहों के ज़माने में 'सरकार संभल' और 'सरकार बदायूँ' देहली प्रान्त में शामिल थीं। दोनों सरकारों के इलाक़े को 'कठेर' कहा जाता था। सन् 1451 ई० में बहलोल लोदी हिन्दुस्तान के तख्त पर बैठा तो उसने सल्तनत को सुदृढ़ करने के लिए 'रोह'[1] को सन्देश भेजकर अफ़ग़ानों को बुलाया। इस निमन्त्रण पर अफ़गानों के समूह के समूह हिन्दुस्तान में आना शुरू हो गये। 'रोह' अफगानिस्तान में एक पर्वतीय क्षेत्र है। इसी कारण यहाँ के निवासी 'रोहेला' कहलाए हैं।[2]

इन रोहेला या रूहेला अफ़गानों के उद्‌भव, विकास एवं अन्य स्थानों पर प्रवजन करने के कारणों का एक अलग इतिहास है। इन कारणों में आर्थिक प्रश्न एवं अफ़गानों के मानवीय स्वभाव जुड़े हुए हैं, रूहेलखण्ड शब्द का उद्‌भव रूहेलों से हुआ है, न कि रूहेलों का रूहेलेखण्ड से। इस रूहेला जाति का मूलतः उद्‌भव अफ़गानिस्तान में हुआ था। भौगोलिक दृष्टि से एक विशेष क्षेत्र 'रोह' से सम्बन्धित होने के कारण ये रूहेला कहलाए किन्तु अनुवांशिकता की दृष्टि से युसूफज़ई कबीले से सम्बन्धित थे। 'रूहेला' शब्द पश्तो भाषा के 'रूहेल्लाह' अथवा 'रूहेल्लाही' शब्द से सम्बन्धित है और ये दोनों शब्द अफ़गानिस्तान में 'रोह' पर्वत शृंखला के समीपवर्ती क्षेत्रों में रहने वाले निवासियों के लिए प्रयुक्त होते हैं।[3]

रूहेला सरदार हाफिज रहमत खाँ का पिता व शाह आलम खाँ का गुलाम 'दाऊद खाँ' औरंगजेब के पुत्र मुहम्मद मोअज्जम बहादुर शाह के शासनकाल में सन् 1707 ई० में अफ़गानिस्तान से चन्द तातारी घोडों को बेचने के लिए पहले दिल्ली और फिर दिल्ली से 'कठेर' में आया।[4] पहले घोड़ों की तिजारत की और फिर धीरे-धीरे अपनी सैन्य शक्ति बढ़ाई। थोड़े दिनों में बहुत से अफगानों को जो हिन्दुस्तान आते रहते थे, साथ लेकर ताक़त हासिल कर ली। कुछ दिनों बाद 'दाऊद खाँ' के उत्थान और उसकी सैन्य शक्ति का समाचार उसके देश तक पहुँच गया तो सैकड़ों अफग़ान उसके पास चले आए। यहाँ तक कि 1500 आदमियों का समूह बन गया। मलिक शादी खाँ, पाइन्दा खाँ, दून्दे खाँ, सरदार खाँ व सुदूर खाँ जैसे प्रमुख अफ़गान योद्धा उसके साथ आ गये।

दाऊद खाँ परगना मधकर (वर्तमान ग्राम मधकर, तहसील शाहबाद जिला रामपुर) के राजा का मुलाज़िम हुआ।[5] उसने जमींदार मधकर की ओर से रतनगढ़ के निरंकुश जमींदार

राजा खेमकरन पर आक्रमण किया और विजय प्राप्त की। इस लड़ाई में उसने ग्राम बकोली तहसील बिसौली जिला-बदायूँ को लूटा। जहाँ उसे एक सुन्दर बालक आयु 7-8 वर्ष हाथ लगा। दाऊद खाँ ने उस बालक को अपना पुत्र बना लिया। उसका नाम अली मुहमद खाँ रखा और उसकी सर्वश्रेष्ठ शिक्षा दीक्षा और परवरिश की। अली मुहम्मद खाँ के वंश और आयु के बारे में इतिहासकारों में मतभेद हैं।[6]

आवलौ में किले के भीतर नवाब का चौबुर्जी महल (नवाब का आवास) (वर्तमान में ऐसी स्थिति में है)

मधकर के राजा के मरने के बाद दाऊद खाँ ने कुमाऊँ के राजा दीप सिंह की नौकरी कर ली। कालांतर में राजा को दाऊद खाँ की वफ़ादारी पर सन्देह हुआ। गद्दारी के सन्देह पर राजा कुमाऊँ ने कपट से सन् 1726 ई० में दाऊद खाँ की हत्या करा दी। पहले पैरों की कूचें कटवाई फिर गर्दन की रगें खिंचवाई और काम तमाम करके लाश को दफन कर दिया।[7]

दाऊद खाँ के क़त्ल के बाद रूहेला सरदारों ने उसके दत्तक पुत्र अली मुहम्मद खाँ को अपना सरदार चुन लिया। अली मुहम्मद खाँ ने ही रूहेल खण्ड की स्थापना की तथा अपने पिता के स्वामी शाह आलम के पुत्र हाफिज़ रहमत खाँ को अपनी सहायता के लिए 'कठेर' बुलाया। नवाब अली मुहम्मद खाँ के साथ हाफिज़ रहमत खाँ ने रूहेलों को अनुशासित एवं नियमित सैन्य संगठन बनाया। और कुछ ही समय में रूहेला शासन का विस्तार दोगुना कर दिया।[8]

रूहेलखण्ड का संस्थापक : नवाब अली मुहम्मद खाँ

दिल्ली के बादशाह मोहम्मद शाह ने 'कठेर' के इलाके के इन्तेज़ाम के लिए तथा रूहेला सरदार को दबाने के लिए संभल (मुरादाबाद) के सूबेदार राजा हरनन्दन खत्री को भेजा गया। नवाब अली मुहम्मद खाँ ने सन् 1742 ई० में राजा हरनन्दन खत्री को बिलारी (मुरादाबाद) के निकट अरिल नदी के किनारे परास्त कर दिया और रामपुर, बरेली, मुरादाबाद, संभल, पीलीभीत, बदायूँ और अन्य ज़िलों पर आधारित एक विशाल रियासत कायम की और आँवला (वर्तमान में बरेली जनपद की तहसील) को अपनी राजधानी बनाया।

आँवला में जहाँ आज किला मुहल्ला है, वहाँ कितने ही भवनों के भग्नावशेष अपनी प्राचीन वैभव

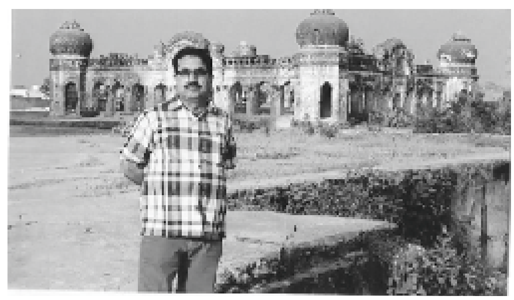

मकबरे के निकट नवाब के परिजनों की कब्रें (कटावदार पक्की ईंटों की जालियों के अंदर)

गाथा कहने को शेष रह गये हैं। मुख्य भवन अली मुहम्मद खाँ का किला है जिसे उन्होंने निजी निवास के लिए बनवाया था। अली साहब की बेगमों के लिए बनी चौबुर्जी का कोई छोर नहीं था। दीवाने-खास से एक सुरंग चौबुर्जी की तरफ जाती थी। आज इन भवनों में सन् 1857 ई० के विद्रोह के दमन के पश्चात् अंग्रेजों के कृपापात्र बने तथाकथित जमींदार 'मियाँ' लोगों का निवास है।[9]

रूहेला 'कठेर' के इलाके को 'मुलक कठेर' कहते थे। यह इलाका रूहेलखण्ड के नाम से उसी ज़माने में

मशहूर हुआ। नवाब अली मुहम्मद खाँ ने अपनी असाधारण योग्यता, वीरता और कुशलनीति से

किले के निकट नवाबकालीन बारहबुर्जी मस्जिद

अपनी सैनिक शक्ति में जबरदस्त वृद्धि की। दिल्ली का बादशाह 'सादाते बाराह' (जानसठ के सैयद) के विद्रोह से परेशान था। दिल्ली के बादशाह ने बाराह के सैयद सैफुद्दीन अली के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करने के लिए अली मुहम्मद खाँ के नाम फरमान जारी किया। इसपर अली मुहम्मद खाँ ने उस पर हमला किया और विजय प्राप्त की। मुग़ल बादशाह ने इस सफलता से खुश होकर उन्हें नवाब की उपाधि, पांच हज़ारी मन्सब (ओहदा) और माही मरातिब (ध्वज पर चाँद व मछली के चित्र) और नौबत निशान का सम्मान बख्शा।[10] मुग़ल बादशाह मोहम्मद शाह ने अली मोहम्मद खाँ को सरहिन्द का चकलेदार या फौजदार नियुक्त किया।[11] जहाँ से वह 1748 ई० में मुल्क कठेर वापस आ गया[12]। नवाब अली मुहम्मद खाँ के दो बेटे अब्दुल्ला खाँ और फैजुल्ला खाँ दिल्ली में थे। प्रधानमन्त्री एतेमादुद्दौला कमरूद्दीन शाही सेना लेकर अहमद शाह अब्दाली के मुकाबले के लिए जब सरहिंद गया तो अली मोहम्मद खाँ के दोनों बेटों को साथ ले गया और अली मोहम्मद खाँ के दोनों बेटों को सरहिन्द में छोड़कर अब्दाली से युद्ध किया। अहमद शाह अब्दाली को पराजय का मुँह देखना पड़ा। अपनी पराजय के बाद उसने स्वदेश लौटते समय सरहिंद को लूटा और नवाब के दोनों बेटों को दबाव डालने के विचार से कन्धार ले गया। कुछ इतिहासकारों का मत है कि सरहिंद से कठेर रवानगी से पहले ही अली मोहम्मद खाँ ने अपने दोनों बेटों को मुहम्मद शाह अब्दाली से सुलह, दोस्ती और वफ़ादारी का विश्वास दिलाने के लिए खुद सरहिंद से भेज दिया था।

अली मुहम्मद खाँ का लगभग 22 वर्ष शासन करने के पश्चात् 44 वर्ष की आयु में 14 सितम्बर सन् 1749 ई० में निधन हो गया। इनका मकबरा आवलों में ही मोहल्ला कटरा के पास हाफ़िज रहमत खाँ ने बनवाया जो आज भी सुरक्षित है और रूहेला स्थापत्य का एक श्रेष्ठ नमूना है। दिल्ली के मुग़ल शासक हुमायूँ के मकबरे की भांति अली मुहम्मद खाँ के मकबरे के समीप उनके परिवारजनों की कब्रें हैं जो चारों ओर से कटावदार पक्की ईंटों की जालियों से घिरी हुई हैं। मकबरे के समीप दक्षिण दिशा में एक विशाल पक्का

नवाब अली मुहम्मद खाँ के मकबरे के उत्तरी दिशा अर्थात पीछे का दृश्य

तालाब है सिजके बायें किनारे पर अली मुहम्मद खाँ के गुरु पीरा अलीशाह का मज़ार है।[13]

अली मोहम्मद खाँ ने 70 युद्धों में भाग लिया और सभी में विजय प्राप्त की। मृत्यु के समय उनकी सेना में 1,00,000 सिपाही और खजाने में 3 करोड़ 40 लाख रुपये और सरहिन्द से मिली एक करोड़ 6 लाख सोने की अशर्फियाँ थीं।[14]

अपने जीवन के अन्तिम दिनों में उन्होंने वसीयत की थी कि उनके तीसरे पुत्र सादुल्ला खाँ को उनका अस्थायी उत्तराधिकारी बना दिया जाए ताकि अबुल्ला

खाँ जब दिल्ली से आएं तो उन्हें नवाब बनाया जाए। हाफिज़ रहमत खाँ और दूसरे रूहेला सरदारों ने वफ़ादारी का वचन लिया। हाफिज़ रहमत खाँ 14 वर्षीय सादुल्ला खाँ की रियासत के उप शासक नियुक्त हुए। सन् 1754 ई० में अब्दुल्ला खाँ और फैजुल्ला खाँ वापस आ गये। अली मोहम्मद खाँ की वसीयत के मुताबिक अब्दुल्ला खाँ को रूहेलखण्ड का नवाब बना दिया गया। किन्तु रूहेला सरदारों के आपसी मतभेदों के कारण एक वर्ष के अन्दर ही पूरी रियासत विभिन्न सरदारों में विभाजित हुई। रामपुर नवाब फैजुल्ला खाँ के हिस्से में आया।[15]

23 अप्रैल 1774 ई० को रूहेला सरदार हाफ़िज रहमत खाँ मीरानपुर कटरा (शाहजहाँपुर जनपद) के पास अंग्रेजों और अवध के नवाब शुजा-उद्-दौला के साथ लड़ते हुए युद्ध में मारे गये तथा नवाब अवध का रूहेलखण्ड पर अधिकार हो गया।[16]

सन्दर्भ

1. 'रोह' आजकल पाकिस्तान के समीपवर्ती अफ़गानिस्तान के जलालाबाद के आसपास का क्षेत्र। 2. "हयात हाफिज़ रहमत खाँ" सैयद अल्ताफ अली 1980, करांची, पृष्ठ–4 । 3. "महाक्रान्ति नायक नवाब बहादुर खाँ" डॉ० जोगा सिंह होठी पृष्ठ–192 । 4. रामपुर गजेटियर पृष्ठ-37, 1974 लखनऊ। गुले रहमत पृष्ठ-4 अ व 4 ब । 5. रामपुर गजेटियर पृष्ठ-37। 6. अख्वारूल वनादीद भाग-1, नज़्मुल ग़नी खाँ 1997, रज़ा लाइब्रेरी रामपुर पृष्ठ- 69-82, रूस्तम अली बिजनौरी, रज़ा लाइब्रेरी जनरल 5/4 पृष्ठ-174, तारीखे रूहेलखण्ड पृष्ठ-27, अब्दुल अजीज खाँ आसी 1963, करांची, हयात हाफ़िज रहमत खाँ पृष्ठ–48। 7. अख्वारूल सनादीद भाग-1 पृष्ठ 78 उपरोक्त। 8. महाक्रान्ति नायक नवाब बहादुर खाँ, डॉ० जोगा सिंह होठी पृष्ठ 2 व 3। 9. ..... अली मुहम्मद खाँ, दै० प्रताप केसरी 4 नव० 1996, शराफ़त अली ख़ान। 10. अख्वारूल सनादीद भाग-1 पृष्ठ 109, ब्रीफ हिस्ट्री ऑफ चीफ्स ऑफ रामपुर पृष्ठ-4, सैयद अली हसन खाँ 1892, कलकत्ता। 11. अख्वारूल सनादीद भाग–1 पृष्ठ–167। 12. उपरोक्त पृष्ठ-182, रामपुर गजेटियर पृष्ठ - 41। 13. रूहेलखण्ड का ताज ..... दै. सांध्य रांची एम्सप्रेस 11 सितम्बर 1996 पृष्ठ – 4 – शराफ़त अली खाऩ। 14. चीफ ऑफ रामपुर – पृष्ठ – 3। 15. गुलिस्ताने रहमत, नवाब मुस्तजाब खाँ, पाण्डुलिपि मौलाना आज़ाद लाइब्रेरी अलीगढ़ पृष्ठ–65। 16. "महाक्रान्ति नायक नवाब बहादुर खाँ" उपरोक्त पृष्ठ-03।

343, फाइक़ इन्कलेव, फेज-2, पो० रूहेलखण्ड विश्वविद्यालय, बरेली (उ०प्र०)-243006 मोबा० 09012174297

●

संघर्षों से मत हार सखे!

जीवन संघर्षों का संगम,
संघर्षों से मत हार सखे!
चाहे जैसे भी दुर्दिन हों,
अपने मन को मत मार सखे!!
मानव-तन-जीवन का जग में,
दो-चार दिनों का खेल सदा,
जिसका मन प्यार भरा रहता,
उसका खुशियां से मेल सदा,
है धन्य वही जीवन,
जिसमें पल-पल खिलता है प्यार सखे!
जीवन संघर्षों का संगम,
संघर्षों से मत हार सखे!!
संतान सभी है ईश्वर की,
सब अपने, कोई गैर नहीं,
नित ज्योति प्यार की जगे जहाँ,
टिक सके वहाँ पर वैर नहीं,
सद्भाव-स्नेह के सुमनों से
तू कर अपना श्रृंगार सखे!
जीवन संघर्षों का संगम,
संघर्षों से मत हार सखे!!

- आचार्य भानुदत्त त्रिपाठी 'मधुरेश'

ताजमहल राजा मानसिंह का महल था

डॉ. आनन्द शर्मा

विश्व का सातवां आश्चर्य माने जाने वाले आगरा के विश्वविख्यात ताजमहल को बादशाह शाहजहां और मुमताज महल के अमर प्रेम का स्मारक बताना इतिहास के साथ निर्मम उपहास है। यह भव्य भवन वस्तुतः आम्बेर के राजा मानसिंह प्रथम का महल था, जिसे शाहजहां ने आम्बेर नरेश मिर्जाराजा जयसिंह से छीन कर कब्रगाह में परिवर्तित किया था। शिवाजी को समर्पण के लिए विवश करने और उन्हें औरंगजेब के पंजे से सुरक्षित आगरा से निकाल ले जाने वाले मिर्जा राजा जयसिंह के बारे में 'बर्नियर' ने लिखा कि वह हिन्दुस्तान का सबसे मालदार और बुद्धिमान राजा था। ताजमहल जैसे भव्य भवन में रहने वाले मातहत सामन्त का वैभव बादशाह शाहजहां को बर्दाश्त कैसे हो सकता था। तभी तो अपनी बेगम मुमताज महल की 7 जून, 1631 को दक्षिण के बुरहानपुर में मृत्यु हो जाने और उसे वहीं जैनाबाद उद्यान में दफना देने के बावजूद, दिसम्बर में आगरा लाकर इस महन में पुनः दफनाया गया। यह इस्लामी परम्परा के सर्वथा विरूद्ध था। आगरा में मुमताज को दफनाने के लिए शाहजहां ने राजा मानसिंह के भव्य महल को मिर्जाराजा जयसिंह से नाम मात्र की कीमत पर खरीद लिया था। इसके बदले जयसिंह को आगरा में चार हवेलियां दी गई, जो आज भी राजा भगवानदास, राजा माधोसिंह, रूपसी बैरागी और चाँदसिंह की हवेलियों के नाम से प्रसिद्ध हैं। विश्व के इस सातवें आश्चर्य को चार हवेलियों के बदले अधिगृहीत करने के पीछे शाहजहां की जयसिंह के वैभव के प्रति ईर्ष्या ही स्पष्ट समझ में आती है। जयपुर राज्य के 'कपड़द्वारा' में मिले दो फरमान इस भवन की आवाप्ति और मुआवजे के रूप में उपरोक्त चार हवेलियां देने का प्रमाण हैं। डॉ. पुरुषोत्तम नागेश ओक ने तो अपनी पुस्तक 'ताजमहल वाज राजपूत पैलेस' में इस सत्य को अकाट्य प्रमाणों के द्वारा सिद्ध किया है।

इस तथ्य का कोई भी इतिहासकार आज तक उत्तर नहीं दे पाया है कि विश्व की इस सबसे भव्य इमारत के निर्माण आरम्भ और समाप्न तिथियाँ, इस पर आई लागत, कारीगरों आदि का उल्लेख 'शाहजहांनामा' में क्यों नहीं मिलता? जबकि इसमें शाहजहां काल की सभी छोटी-बड़ी घटनाओं का उल्लेख किया गया है। शाहजहां द्वारा निर्माण करवाये जाने की स्थिति में तो ताजमहल जैसे भव्य भवन के निर्माण का उल्लेख पूरे विस्तार के साथ किया जाना चाहिये था।

इसी प्रकार ताजमहल से सम्बन्धित ग्रन्थों और विश्व भर के शोधकर्ताओं में इसके निर्माण

काल (6 माह से 9 वर्ष), निर्माण पर व्यय (40 लाख से 9 करोड़), धन का स्रोत, निर्माता और शिल्पियों, मुमताज के उसमें दफनाये जाने की तिथि (6 माह से 9 वर्ष) सहित सभी विवरण परस्पर अस्पष्ट, भ्रामक, विवादास्पद और वास्तविकता से परे क्यों हैं? डॉ. पी. एन. ओक ने ताजमहल का वास्तविक नाम 'तेज महाआलय' बताया है, जिसका निर्माण कार्य सन् 1155-56 में पूर्ण हुआ था।

इसी प्रकार फ्रांसिसी यात्री टेवरनियर ने अपने यात्रा प्रसंग में लिखा था कि उसने ताजमहल का निर्माण आरम्भ और पूर्ण होते देखा है। टेवरनियर कुल छह माह आगरा में रहा था। तो क्या छह माह में ताजमहल बन गया था? स्पष्ट है कि उसने ताजमहल में कुरान की आयतें उत्कीर्ण करने के लिए बनाये बांसों के ढांचे को देख कर ताजमहल निर्माण होना समझ लिया था। डॉ. ओक ने ढेर सारे अकाट्य प्रमाणों के द्वारा इसे राजपूत महल प्रमाणित किया है, जिसे शाहजहां ने जयसिंह से अपनी बेगम के स्मारक के बहाने छीन लिया था।

शाहजहां के आदेश पर मुल्ला अब्दुल हमीद लाहौरी द्वारा लिखे 'बादशाहनामा' (दरबारी इतिहास) को 'एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल' ने मूल फारसी में दो खण्डों में प्रकाशित किया था। इसके प्रथम खण्ड के पृष्ठ 403 की 22 वीं पंक्ति में मुमताज बेगम के अवशेषों को भिजवाने का उल्लेख किया गया है – 'हजरत मुमताजुल जमानी को, जिसे अस्थायी रूप से दफना दिया गया था, भेजा गया।' अगले पृष्ठ 403 पर 23 से 41 पंक्तियों में अवशेषों को लानेवालों के नाम, आगरा के 'मानसिंह के प्रासाद' में दफनाने, भवन के बदले जयसिंह को जमीन देने आदि का उल्लेख किया गया है–'शहजादा मोहम्मदशाह, शूजा बहादुर, वजीर खां और सातुन्निसा खानम, जो मृतक के स्वभाव और कार्यों से भली-भाँति परिचित और बेगम के विचारों का प्रतिनिधित्व करती थी, को भेजा गया। उसको राजधानी अकबराबाद (आगरा) लाया गया और उसी दिन एक आदेश निकाला गया कि यात्रा के दौरान फकीर और जरूरतमन्द लोगों को असंख्य मुद्रायें बाँटी जायें। महान नगर के दक्षिण भव्य, सुन्दर हरित उद्यान से घिरा हुआ, जिसका केन्द्रीय भवन, जो 'राजा मानसिंह के प्रासाद' के नाम से जाना जाता था, अब राजा जयसिंह जो मानसिंह का पौत्र था, के अधिकार में था, को स्वर्ग जा चुकी बेगम के दफनाने के लिए चुना गया। यद्यपि राजा जयसिंह उसे अपने पूर्वजों का उत्तराधिकार और सम्पदा के रूप में मूल्यवान समझता था, तो भी वह बादशाह शाहजहाँ के लिए निःशुल्क देने के लिए तत्पर था। फिर भी केवल सावधानीवश, जो कि दुःख और धार्मिक पवित्रता के लिए आवश्यक है, अपने प्रासाद का अधिग्रहण अनुपयुक्त मानता हुआ, उस भव्य प्रासाद के बदले जयसिंह को जमीन का एक साधारण टुकड़ा दिया गया। उस महानगरी (आगरा) में शव के पहुँचने के बाद 15 जमाहुल सानिया को अगले वर्ष स्वर्गीय महारानी का सुन्दर शरीर दफना दिया गया। राजधानी के अधिकारियों द्वारा शाही फरमान के अनुसार गगनचुम्बी गुम्बद के नीचे, उस पुण्यात्मा रानी का शरीर, संसार की आँखों से ओझल हो गया और यह प्रासाद इतना भव्य और बनावट में गगनचुम्बी गुम्बदों से युक्त स्मारक इतना ऊँचा है। शक्तिशाली, दृढ़व्रती साहिब कुरानी सानी (बादशाह) के आदेश से सुविज्ञ रेखांकनकार तथा वास्तुकारों द्वारा नींव रखी। इस भवन पर 40 लाख रुपया व्यय हुआ।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि बुरहानपुर में शाहजहाँ की बेगम अर्जुमन्द बानो की मृत्यु हो जाने के बाद उसे वहीं उद्यान में दफना दिया गया था। लगभग छह माह बाद उसके अवशेषों को कब्र से निकाल कर, 600 मील दूर अकबराबाद (आगरा) लाया गया। अर्थात् इस अवधि में शाहजहाँ को दफन करने के लिए पूर्वनिर्मित मकबरा मिल गया था। छह माह में ताजमहल जैसी भव्य इमारत के बन

जाने की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती।

फिर इस्लाम में एक बार दफना देने के बाद किसी सामान्य व्यक्ति की कब्र तक नहीं खोली जाती। यह कब्र में आराम कर रही आत्मा का अपमान माना जाता है। फिर यह तो बादशाह की बेगम की कब्र थी। किसी विशेष प्रयोजन के बगैर बादशाह अपनी 'सर्वाधिक प्रिय बेगम' के अवशेषों का ऐसा अपमान और इस्लाम-विरोधी आचरण नहीं कर सकता था। स्पष्ट है कि मिर्जाराजा जयसिंह का अनुपम महल छीनने के लिए ही शाहजहाँ ने यह षड्यंत्री ताना-बाना बुना था। अपने मनसबदार राजा का यह वैभव उसके कलेजे में काँटे-सा साल रहा था। उस काँटे को निकालने के लिए वह इस्लामी परम्पराओं और नैतिकता को तिलांजलि देने से भी बाज नहीं आया था। अपनी मरहूम बेगम के अवशेषों का ऐसा अक्षम्य अपमान ही यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि मुमताज महल बादशाह के 'दिल की मलिका' नहीं, एक सामान्य बेगम मात्र थी। जिसके अवशेषों तक को उसने अपनी शातिराना चालों के लिए प्रयुक्त करने में कोई संकोच नहीं किया था।

'बादशाहनामा' के उपरोक्त वर्णन में ताजमहल को 'राजा मानसिंह का प्रासाद' के रूप में उल्लेख करना ही पर्याप्त साक्ष्य है कि उस समय इस भव्य इमारत को इसी नाम से जाना जाता था, जिस पर उनके पौत्र जयसिंह का अधिकार था। किन्तु यह भी सच है कि इस उल्लेख का अर्थ मानसिंह द्वारा ताजमहल निर्माण करवाना नहीं हो सकता। वरना इस अनुपम निर्माण का उल्लेख मानसिंह पर लिखे 'मानचरितावलि' आदि समकालीन ग्रंथों में अवश्य मिलता। जयपुर राज्य के 'पोथीखाना' में उपलब्ध दस्तावेजों में भी इसमें राजा मानसिंह के निवास का उल्लेख ही मिलता है, जिसे बादशाह ने उनके पौत्र जयसिंह से, अपनी बेगम को दफनाने के लिए प्राप्त किया था। 'बादशाहनामा' में इसके बदले जयसिंह को भूमि प्रदान करने का उल्लेख है। यदि जयसिंह के कब्जे का यह क्षेत्र खुली जमीन मात्र था, तो इस जमीन के टुकड़े में ऐसा क्या था? जिसे अधिग्रहीत करके बादशाह बदले में जमीन देता। वह तो उस जमीन पर ही मकबरे का निर्माण करवा सकता था। स्पष्ट है कि यह जमीन का टुकड़ा मात्र नहीं, भव्य भवन था, जिसे हथियाना ही शाहजहाँ का मुख्य उद्देश्य था।

फिर मुस्लिम इतिहास में किसी कब्र को स्थानान्तरित करने का यह एकमात्र उदाहरण है। इसके अतिरिक्त बादशाहों तक की दो कब्रों का उल्लेख भी कहीं नहीं मिलता। प्रत्येक व्यक्ति की एक ही कब्र होती है। किन्तु ताजमहल के भूगर्भ (अण्डर ग्राउण्ड) में मुमताज की असली और ऊपरी मंजिल (ग्राउण्ड फ्लोर) में नकली कब्र बनाये जाने का भी यह अकेला उदाहरण है। स्पष्ट है कि कालान्तर में इस पर आम्बेर राजाओं के पुनः अधिकार कर लेने की आशंका से बचने के लिए ही शाहजहाँ ने दोनों मंजिलों को श्मशान बना देने का प्रयास किया था। इसी कारण बाद में मरने वालों को भी इसी परिसर में दफनाया जाने लगा। ताज परिसर में शाहजहाँ की सरहन्दी बेगम ही नहीं, मुमताज की नौकरानी सातुन्निसा खानम सहित अनेक अज्ञात कब्रें पूर्व से पश्चिम तक बनी हुई हैं। बेगमों के कब्रिस्तान में नौकरानी को दफनाने की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। बेगम और नौकरानी की कब्रें एक समान बना कर क्या वह बेगम को नौकरानी या नौकरानी को बेगम के समान सिद्ध करना चाहता था? फिर सातुन्निसा की मृत्यु सन् 1647 में लाहौर में हुई थी। उसके सड़े शव को 400 मील दूर से लाकर ताजमहल में दफनाने की बात पर तो कोई मूर्ख ही विश्वास कर सकता है। शाहजहाँ के हरम में 5000 रखैलें और दस हजार से अधिक दासियां थी। शाहजहाँ ने और किसी रखैल या नौकरानी के लिए तो कोई मकबरा नहीं बनवाया था।

ताजमहल जैसी अनुपम कृतियों का निर्माण शान्तिकाल में ही संभव होता है। मुल्ला अब्दुल हमीद लाहौरी के 'बादशाहनामा', इनायत खां के

'शाहजहाँनामा', मोहम्मद वारिस के 'बादशाहनामा', मोहम्मद काबू के 'अमल-ए-सलीम' और मुहम्मद सादिक खां के 'शाहजहाँनामा' का अध्ययन करने पर शाहजहाँ का 29 वर्ष 7 माह का शासन प्रत्येक वर्ष युद्धों, विद्रोहों, अकाल आदि से निपटते हुए व्यतीत हुआ था। लाहौरी के शाहजहाँनामा के पृष्ठ 362 के अनुसार मुमताज की मृत्यु के वर्ष तो भुखमरी की यह स्थिति थी कि कुत्ते का मांस बकरे के गोश्त में और हड्डियों को पीस कर आटे में मिला कर बेचा जा रहा था। आदमी को आदमी मार कर खाने लगा था। तब बादशाह ने अधिकारियों को आज्ञा देकर बुरहानपुर, अहमदाबाद और सूरत के प्रदेशों में निःशुल्क भोजनालयों की व्यवस्था करवाई थी। राज्य की ऐसी भयानक दुर्दशा से जूझते बादशह के द्वारा क्या ताजमहल जैसे भव्य और खर्चीले भवन का निर्माण करवाया जाना सम्भव था? अपने तीस वर्ष के शासन में शाहजहाँ ने 48 युद्ध अभियान छेड़े थे। इन पर अपार धन व्यय हो रहा था। जीवन के अन्तिम आठ वर्ष तो उसने पुत्र औरंगजेब की कैद में व्यतीत किये थे। इसे स्वर्णिम और शान्तिकाल कैसे कहा जा सकता है?

प्रख्यात पुरातत्ववेता ई. बी. हेवेल और आर्कालोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया के सुपरिन्टेण्डेन्ट बी.एल.धामा ने दृढ़तापूर्वक इसे हिन्दू भवन बताया है। 'दी ताज' पुस्तक में धामा लिखते हैं, 'न तो ताजमहल के मूल निर्माता का नाम और न ही उस पर व्यय की गई निश्चित राशि का कहीं उल्लेख मिलता है ...... इसका आकार-प्रकार तथा अनुपात सब कुछ भारती है ...... इसका निर्माता निश्चित ही हिन्दू शास्त्रों का ज्ञाता, अपितु पारंगत पण्डित होगा .... ताज शरीर और आत्मा से भारतीय है, मूल रूप से भारतीय है, केवल उसका कुछ भाग विकृत कर उसे बाहरी जामा पहनाने का प्रयास किया गया है ... इसके तीन भाग (चौकोर, अष्टभुज और मण्डलाकार) सृष्टि, स्थिति और संहार के प्रतीक हैं ... ताज का शिल्प कमल से लिया गया है, जो हिन्दुओं का पूज्य पुष्प है ..... सारी वास्तु सज्जा और निर्माण भारतीय है और प्राचीन स्मारकों से ग्रहण की गई है।'

फ्रांसिसी यात्री टेवरनियर ने ताजमहल परिसर में दुकानों की पंक्ति का उल्लेख किया है। विश्व के किसी भी मकबरे में दुकानें नहीं मिलती। इसी प्रकार 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' में ताजमहल परिसर में अश्वशाला, अतिथिशाला, सैनिक बैरक्स होने का भी उल्लेख किया गया है। ये सब तो राजमहल में होते हैं, मकबरे में नहीं। इसी प्रकार इस्लाम में मकबरा को अलंकृत करने की मनाही है। किन्तु ताजमहल की दीवारों पर शिल्पकला का अनुपम कार्य 'पच्चीकारी' ही नहीं, उसकी दीवारों में हीरा, मोती, माणक आदि हजारों मूल्यवान रत्न तक जड़े थे।

ताजमहल का अर्थ होता है, 'महलों का ताज' अर्थात् भवनों का सिरमौर। महल शब्द तो राजभवन के लिए प्रयुक्त होता है। कब्रिस्तान को विश्व में कहीं भी महल नहीं कहा जाता। शाहजहाँ की इस बेगम का नाम अर्जुमन्द बानो था। फिर यह मुमताज नाम कहाँ से आ गया? यदि यह बेगम को मिली कोई उपाधि थी, तो उसकी कब्रगाह का नाम 'मुमताज मजार' अथवा 'मुमताज की कब्र' होना चाहिये था। मुगल दरबार के रिकार्ड में भी 'ताजमहल' नाम नहीं मिलता। फिर अर्जुमन्द बानों को मुमताज बना कर उसका नाम ताजमहल से जोड़ते हुए इसे अनुपम प्रेम का स्मारक घोषित करने की अनावश्यक कोशिशें क्यों की जाती रही हैं? यह हिन्दू इतिहासकारों और सरकारों की मुस्लिमपरस्ती के अतिरिक्त क्या है?

शाहजहाँ का चरित्र तो इस प्रेम-कहानी का और भी जोरदार खण्डन करता है। वह अत्यन्त क्रूर और कामुक था। कीन ने अपनी पुस्तक में शाहजहाँ द्वारा अपने बड़े भाई खुसरो, छोटे भाई शहरयार और चाचा दानियाल के दो पुत्रों की हत्या करने का उल्लेख किया है। अन्य अनेक इतिहासकारों ने भी उस पर लूटपाट, हत्या और सुन्दर स्त्रियों के शील-भंग के आरोप

लगाये हैं। क्रूरता के मामले में 'इलियट एण्ड डौसन का इतिहास, खण्ड, पृष्ठ 281' में उधृत बादशाह जहांगीर का कथन ही पर्याप्त, 'मैंने निर्देश दिया है कि भविष्य में उसे नराधम समझा जाये। इस इकरारनामे में जहां कहीं यह शब्द प्रयुक्त हो, उसी के लिए समझा जाये। मैंने उसके लिए बहुत कुछ किया है, लेकिन वह मुझे अपार दुःख और आत्मक्लेश दे रहा है....वह अब मेरा पुत्र नहीं रहा।' शाहजहां के मन्दिर विध्वंस, लूट-पाट, हत्या आदि क्रूर कृत्यों के दर्जनों उदाहरण हैं, जिन्हें यहां देना, प्रकरण को विस्तार प्रदान कर देगा। 'बर्नियर' और 'मनूसी' ने उनका भरपूर उल्लेख किया है।

शाहजहाँ घोर कामुक भी था। 'दी ताज' में कँवरलाल लिखते हैं कि उसका जीवन राक्षसी कामासक्ति वाले अति कामुक व्यक्ति का था। 'मनूसी' लिखते हैं वह वासनापूर्ति के लिए सुन्दरियों की तलाश में लगा रहा था। उसके हरम में पाँच हजार रखैलें थी। जफरखां और खलीलुल्लाहखां की पत्नियां सुबह और दोपहर में आती थी। सुबह जफरखां की पत्नी को महल की ओर जाते देख मार्ग में बैठे भिखारी चिल्लाते थे, 'ऐ बादशाह के कलेवा, हमारा भी खयाल कर'। दोपहर में खलीललुल्लाह की पत्नी के जाते समय से चिल्लाते थे, 'ऐ बादशाह के कलेवा, हमारा भी ख्याल कर'। दोपहर में खलीलुल्लाह की पत्नी के जाते समय से चिल्लाते थे, 'ऐ बादशाह के दोपहर का भोजन, हमें भी कुछ देती जा'। 'मैनरिक' कहते हैं कि शाहजहाँ ने अपनी बेटी की सहायता से शइस्ताखां की पत्नी का सतीत्व नष्ट किया था। 'पीटर मुंडी' कहता है कि शाहजहां का अपनी पुत्री चमनी बेगम के साथ यौन-सम्बन्ध था। उसकी सुन्दर पुत्री जहांआरा के साथ यौन-सम्बन्धों के बारे में 'बर्नियर' लिखता है कि शाहजहां की बड़ी लड़की जहांआरा बहुत सुन्दर और सजीली थी और अपने कामातुर पिता को बहुत प्रिय थी। यह अफवाह थी कि उनके सम्बन्ध सीमा पार कर चुके थे। इन्हें उचित ठहराने के लिए मुल्ला-मौलवियों की शरण लेनी पड़ी थी। उनका फतवा था कि बादशाह द्वारा अपने रोपे गये वृक्ष के फल तोड़ने से वंचित करना अन्याय की बात होगी।

जहाँ तक मुमताज के प्रति अनुपम प्रेम की बात है, यह बादशाह की अपार कामुकता तक सीमित थे। 18 वर्षों के वैवाहिक जीवन में मुमताज ने 14 बच्चों को जन्म दिया था। सन् 1629 में एक कन्या 'गौहर' को जन्म देते हुए उसकी मृत्यु हुई थी। मुमताज के स्वास्थ्य की परवाह किये बगैर वह उसके साथ यौन तृप्ति करते हुए उसे प्रति वर्ष माँ बनाता रहा था। जल्दी-जल्दी गर्भधारण के कारण इन सन्तानों में से कई की कुछ माह से लेकर कुछ वर्षों में ही मृत्यु हो गई थी। 'कीन' ने मुमताज की सन्तानों का जन्म-मृत्यु वर्ष के साथ उल्लेख किया है। सन् 1613 में जन्मी जहांआरा भी मुमताज की पुत्री थी, जिसके साथ बाद में शाहजहाँ ने यौन-सम्बन्ध बना लिए थे। इसके बाद भी इसे अनुपम प्रेम की संज्ञा देना दिमागी दिवालियापन के अलावा और क्या कहा जा सकता है?

डॉ. पी. एन् ओक़ ताजमहल को बारहवीं शताब्दी का शिव मन्दिर बताते हैं, जिसे बाद में मुस्लिम आक्रमणकारियों ने लूट कर अपना निवास (प्रासाद) बना लिया था। इब्राहीम लोदी को परास्त करने के बाद, भारत में मुगल साम्राज्य का संस्थापक और शाहजहाँ का प्रपितामह बाबर इसी भवन में रहा था। बाबर द्वारा तुर्की भाषा में लिखे अपने संस्मरणों में इसका वर्णनात्मक उल्लेख मिलता है। जॉन लोडन और विलियम अर्सकाइन द्वारा अनुवादित इन संस्मरणों का 'मैमायर्स ऑफ जहीरुद्दीन मोहम्मद बाबर' नाम से हम्फ्री मिलफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस ने सन् 1921 में प्रकाशन किया था। इसके भाग दो, पृष्ठ 192 पर 'गुरुवार 10 मई, 1526 को मैंने दोपहर बाद आगरा में प्रवेश कर, सुल्तान इब्राहीम के महल में निवास किया' और पृष्ठ 251 पर 'ईद के कुछ ही दिनों बाद हमने सुल्तान इब्राहीम के महल के बड़े हॉल में, जो कि पत्थर के श्रृंखलायुक्त स्तम्भों से सज्जित है,

गुम्बद के नीचे विशाल भोज का आयोजन किया' विवरण मिलता है। संस्मरणों में बाबर द्वारा किया विस्तृत विवरण सिर्फ ताजमहल से ही मेल खाता है। इस वर्णन से मेल खाने वाली कोई अन्य इमारत आगरा में नहीं थी। बाबर ने 10 मई, 1526 से मृत्युपर्यन्त 26 दिसम्बर, 1530 तक इसी महल में निवास किया था। यहीं से उसका जनाजा निकला था। हुमायू की ताजपोशी भी इसी महल में हुई थी। यह विवरण मुमताज प्रकरण के एक शताब्दी पूर्व भी ताजमहल के होने का प्रत्यक्षदर्शी प्रमाण है।

ऐसे में यह स्वाभाविक प्रश्न उत्पन्न होता है कि बार के अधिकारवाला ताजमहल आम्बेर राजा मानसिंह के अधिकार में कैसे आ गया? दरअसल बाबर की मृत्यु के बाद शेरशाह सुरी से परास्त होकर हुमायूं को भारत से भागना पड़ा था। लम्बे अन्तराल के बाद उसके भारत लौटने तक मुगल आधिपत्य का यह क्षेत्र अरक्षित सा रहा। इस अवसर का लाभ उठा कर हिन्दू राजाओं ने इस क्षेत्र के नगरों और भवनों पर अधिकार कर लिया था। भारत लौटने के छह माह बाद ही मृत्यु हो जाने के कारण हुमायूं आगरा तक नहीं पहुँच पाया था। उस समय दिल्ली, आगरा और फतहपुर सीकरी पर हिन्दू सेनापति हेमू का अधिकार था। हुमायूं के बाद तेरह वर्ष की आयु में बादशाह बने अकबर को ये क्षेत्र प्राप्त करने के लिए हेमू से युद्ध करना पड़ा था। संभवतः उस समय आम्बेर के किसी राजा ने इस पर अधिकार कर लिया था। आम्बेर राज्य भी कम शक्तिशाली नहीं था। आखिर आम्बेर के राजा पृथ्वीराज ने महाराणा सांगा के साथ मलकर बाबर के विरूद्ध युद्ध किया ही था। यह बात दूसरी है कि बाद में आन्तरिक परिस्थितियों के समक्ष कमजोर पड़े राजा भारमल ने आम्बेर को सुरक्षित रखने के लिए अकबर के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किये थे। यह पक्ष इतिहासकारों से और अधिक शोध की अपेक्षा रखता है। किन्तु शाहजहाँ द्वारा अधिग्रहण करते समय इसका उल्लेख 'मानसिंह का प्रासाद' नाम से किया जाना ही प्रमाणित करता है कि यह भव्य भवन राजा मानसिंह की सम्पत्ति बन चुका था। और उत्तराधिकारी के नाते मिर्जाराजा जयसिंह इसमें निवास करते थे।

इस प्रकारण की विस्तृत और प्रमाणिक जानकारियों के लिए डॉ. पी. एन. ओक की पुस्तक 'ताजमहल वाज राजपूत पैलेस' द्रष्टव्य है, जिसका हिन्दी अनुवाद 'ताजमहल मन्दिर भवन है' नाम से भारतीय साहित्य सदन, 30/90, कनाट सर्कस, नयी दिल्ली ने सन् 1993 में प्रकाशित किया था।

मानसिंह प्रदत्त भूमि पर 'कोलकाता' महानगर के अतिरिक्त, नयी दिल्ली का अधिकांश निर्माण जयसिंह द्वारा बसाये 'जयसिंहपुरा' पर हुआ है। यह जयसिंह ने बसाया अथवा उनके वंशज सवाई जयसिंह ने, इस पर बहस निरर्थक है। यह उल्लेख तो आम्बेर के उस काल में दूर-दूर तक फैले वैभव संकेत के लिए ही किया गया है। वैसे भारत के राष्ट्रपति का निवास भी वस्तुतः जयपुर महाराजाओं का निवास 'जयपुर हाउस' ही है।

645, किशोर कुँज, किशनपोल बाजार
जयपुर-302001 मोबाइल- 8387020912

●

असफलता के विचार से सफलता का उत्पन्न होना उतना ही असंभव है, जितना बबूल के पेड़ से गुलाब के फूल का निकलना।

- स्वेट मार्टन

मानव का अंतःकरण ही ईश्वर की वाणी है।

- वायरन

दूसरों के अनुभवों का चिन्तन करने से भीतरी सामंजस्य कभी नहीं मिलता? उसके लिए स्वयं आग में से गुजरना पड़ता है।

- नार्मन डगलस

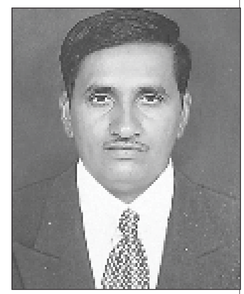

भारतीय डायस्पोरा फिजी के विशेष सन्दर्भ में

डॉ. तेजसिंह मावई

डायस्पोरा शब्द का उदय ग्रीक भाषा के शब्द 'Diaoropa' से हुआ है ।[1] यह शब्द उन लोगों के लिए प्रयोग में लिया गया, जिन्हें अपनी मातृभूमि से बलपूर्वक या अन्य कारण से अलग कर दिया गया। इस शब्द का सबसे पहले प्रयोग 586 ई.पू. में हुआ। जब यहूदियों को जबरदस्ती बेबिलोनिया के लोगों द्वारा अपने देश से निकाल दिया गया। यहुदियों को 135 ई. पू. में रोमन साम्राज्य ने जेरूसलम से निकाल दिया। इसलिए यहूदियों को विभिन्न देशों से जाना पड़ा। डायस्पोरा या प्रवास के अनेक प्रकार हैं जिनमें प्रमुख इस प्रकार है ।[2] 1. श्रमिक प्रवासी 2. शरणार्थी 3. मानव तस्करी तथा अनैतिक व्यापार 4. पीड़ित तथा विपत्तिग्रस्त डायस्पोरा 5. अप्रमाणिक प्रवासन।

डायस्पोरा शब्द का अंग्रेजी में प्रयोग 1876 में हुआ ।[3] यह शब्द 1950 के मध्य अधिक विस्तारित हुआ। डायस्पोरा शब्द 20वीं शताब्दी में विभिन्न देशों एवं क्षेत्रों के लोगों के लिए प्रयुक्त होने लगा जो अन्य देशों में रहतें थे। 20वीं शताब्दी में यह शैक्षणिक अध्ययन का विषय बना।

विश्व संस्कृति में डायस्पोरा एक महत्वपूर्ण और कुछ संदर्भों में विशिष्ट स्थान निर्मित कर रहा है। वर्तमान में यह राजनैतिक प्रभुत्व स्थापित करने तथा उसे औपनिवेशिक शासन प्रणाली के हिस्से के रूप में अंगीकार करने से मुख्यतः जुड़ा हुआ है। 19 वीं शताब्दी में अनुबंधित श्रमिकों के रूप में बड़े पैमाने पर भारतीयों को सुदूरवर्ती औपनिवेशिक बागान क्षेत्रों में ले जाया गया इनमें मारीशस, त्रिनिदाद, सूरीनाम, दक्षिण अफ्रिका, श्रीलंका, गुयाना, मलेशिया, फिजी आदि देश प्रमुख हैं।

अपने औपनिवेशिक बगानों में कार्य कराने के लिए श्रमिकों की आवश्यकता की पूर्ति करने के लिए अंग्रेजो के लिए भारत से श्रमिक ले जाना आसान था। अंग्रेजों ने भारतीय किसान और मजदूरों को स्वप्न दिखाये और कहा कि यहाँ तुम्हारी स्थिति अच्छी नहीं है यदि तुम फिजी में काम करने चलोगे तो तुम्हारी स्थिति स्वर्गतुल्य हो जायेगी। दो जून की रोटी के लिए तरसते किसान–मजदूर अंग्रेजों की बातों में आ गये। अशिक्षित हजारों लोगों ने अनुबन्धन पत्र या एग्रीमेंट (गिरमिट) पर हस्ताक्षर कर दिये और अपने जीवन को नरक में डाल दिया। श्री मैथिलीशरण गुप्त ने अपनी पुस्तक 'किसान' में इसका वर्णन इस प्रकार किया है।

"शीघ्र मैं साहब बहादुर से मिलाऊँगा तुम्हें,
नौकरी, पर मालिकी–सी, मैं दिलाऊँगा तुम्हें।
वस्त्र-भोजन और पन्द्रह का महीना,
दाम भी काम भी ऐसा कि जिसमें नाम भी आराम भी।।
सैर सागर की करोगे दृश्य देख नये नये, जानते हो तुम पुरी को?
द्वारिका भी हो गये? यह बहुत है?
ठीक है बस, भाग्य ने अवसर दिया,
याद मुझको भी करोगे, था किसी ने हित किया।"[4]

भोले–भाले किसान मजदूर इस प्रकार उनकी बातों में फँस जाते थे। इन मजदूरों को एक निश्चित डिपो में एकत्रित किया जाता था। डिपो से जहाज द्वारा इन्हें फिजी भेज दिया जाता था। प्रसिद्ध स्वतंत्रता सेनानी तोताराम सनाढ्य ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि एक दिन वह स्थानीय बाजार से लौट रहा था। एक दलाल उसे अच्छे वेतन और अच्छी नौकरी का विश्वास दिलाकर कलकत्ता ले आया। तोताराम के विरोध करने पर उसे कोठरी में बन्द कर दिया गया। 28 मई 1893 को उसके जन्म दिन के दिन 500 भारतीयों के साथ उसे फिजी भेज दिया गया।[5]

इन भारतीय मजदूरों को अंग्रेजी में कुली कहते थे। इन कुलियों का जीवन नरक से भी बढ़कर था। गोरे अफसर हिन्दुस्तानी कुलियों को मनुष्य नहीं समझते थे। गोरे अफसर हिन्दुस्तानी कुलियों को "डेम सूअर" कहते थे।[5]

कुलीप्रथा के लिए अंग्रेजों के साथ–साथ भारतीय दलाल समान रूप से दोषी थे। ये दलाल भी भोली–भाली जनता को बेवकूफ बनाकर नरक में धकेल देते थे। बड़े–बड़े सपने दिखाकर निर्धन भारतीयों को फिजी जाने के लिए तैयार कर लेते थे। फिजी को वे धरती का स्वर्ग बताते थे। मैथिलीशरण गुप्त ने अपनी पुस्तक किसान में इसका वर्णन इस प्रकार किया है–

अधम आरकाकटी कहता था–फिजी स्वर्ग है भू पर,
नभ के नीचे रहकर भी वह पहुँच गया है ऊपर!
मैं कहता हूँ, फिजी स्वर्ग है तो फिर नरक कहाँ है?
नरक कहीं हो किन्तु नरक से बढ़कर दशा यहाँ है।।[7]

भारतीय कुलियों को लेकर फिजी जाने वाले जहाजों में कुलियों के साथ अमानवीय व्यवहार किया जाता था। उन्हें भरपेट भोजन और पानी भी नहीं दिया जाता था। इन्हें भेड़-बकरियों की भाँति ठूंस-ठूंस कर ले जाया जाता था, कई कुलियों की रास्ते में मृत्यु हो जाती थी। मैथिलीशरण गुप्त ने अपनी पुस्तक किसान में इसका वर्णन इस प्रकार किया है–

मृत्यु का मुख–सा हमारे अर्थ रहता था खुला,
रोटियाँ पाते गिनीं हम और पानी भी तुला!
बहुत हो तो गालियाँ खावें तथा आँसू पीयें,
पूछता था कौन फिर चाहे मरें चाहे जीयें!
बहुत लोग जहाज में ही कष्ट पाकर मर गये,
धन्य थे वे शीघ्र ही जो कष्ट पाकर मर गये,
धन्य थे वे शीघ्र ही जो सब दुखों से तर गये!
जो मरा, फेंका गया तृण–तुल्य सागर–नीर में,
हड्डियाँ भर सके जलचर विनष्ट शरीर में![8]

नरक में दया भले ही न हो किन्तु न्याय किया जाता है। पाप करने वाले को यमराज द्वारा दण्ड दिया जाता है। किन्तु फिजी में भारतीय कुलियों को दुष्ट अंग्रेजों के हाथों बिना मौत ही मरना पड़ता है। फिजी ही नहीं दुनिया के अन्य देशों में भी 19वीं व 20वीं शताब्दी में भारतीय मजदूरों के साथ पशुवत् व्यवहार किया जाता था। 1893 में गांधीजी दक्षिणी अफ्रीका गये, वहाँ पर उनके साथ जो दुर्व्यवहार हुआ, उसे कौन नही जानता है।

दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों की स्थिति बहुत ही बुरी थी। उनके साथ दुर्व्यवहार किया जाता था। उन्हें वहाँ असभ्य और जंगली समझा जाता था, श्वेत सत्ताधारी उनसे घृणा करते थे।[9]

महात्मा गाँधी ने दक्षिण अफ्रीका की गोरी सरकार के दमन एवं भेदभाव का विरोध प्रारम्भ कर दिया।

उन्होंने लिखा है–

"मेरे प्रिटोरिया प्रवास ने मुझे वह अवसर प्रदान किया जिससे मैं ट्राँसवाल और ओरेन्ज फ्रीस्टेट के भारतवासियों की सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक स्थिति का अध्ययन कर सकूँ। मुझे उस समय कोई विचार नहीं था कि यह अध्ययन भविष्य के लिए इतना अधिक उपयोगी होगा।[10]

फिजी में प्रवासी भारतीयों की स्थिति इतनी खराब थी कि उसका वर्णन करना कठिन है। दीनबन्धु के नाम से प्रसिद्ध सी.एफ एण्ड्र्यूज ने एक कविता में उसका वर्णन इस प्रकार किया है–

गिरमिटिया मजदूर
वह दुबका था राह किनारे
बिना सहारे
आतंकित मुख
भरता आहें
झुलसी पीठ
ऐंठती बाहें
जैसे हो आखेट किसी का
मैंने तन–मन–प्राण उसी में केंन्द्रित पाया
इन आँखों ने बरबस जल छलछल बरसाया
फिर बदला परिदृश्य
और अचरज यह मैंने देखा
उसकी पुतली में चित्रित थी
मेरे प्रभु की अनुपम रेखा,
शांत, अमर लावण्य–पुंज
करुणामय मेरे स्वामी
सबके अन्तर्यामी।[11]

फिजी में भारत वासियों को भरपेट भोजन भी नहीं मिलता था। यहाँ पर कुली के रूप में काम कर चुके तोताराम ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि एक सप्ताह के राशन में चार दिन का भोजन ही दिया जाता था, शेष तीन दिन या तो भूखा रहना पड़ता था या फिर सप्ताह में आधा भूखा रहकर रात-दिन कठोर परिश्रम करना पड़ता था। भारतीयों के आवास ऐसी गन्दी जगह पर होते थे जहाँ मच्छरों के कारण अनेक बीमारियां अनायास ही आ जाती थी।[12]

परिश्रम से थककर आराम करने पर गोरे जमींदारों द्वारा भारतीयों को बेरहमी से पीटा जाता था। उनके हाथ-पैर तोड़ दिये जाते थे। जिन्दे व्यक्ति को लाश में बदल देते थे। मैथिलीशरण गुप्त ने अपनी पुस्तक किसान में लिखा है–

वह देखो किसकी ठोकर से किसकी तल्ली टूटी
धरती लाल हुई शोणित से हाथ खोपड़ी फूटी।
अपनी फांसी आप कौन वह लगा रहा है। देखो,
जीवन रहते विवश मृत्यु को जगा रहा है।[13]

सी.एफ ऐण्ड्र्यूज फिजी में भारतीय प्रवासियों की स्थिति के अध्ययन के लिए वहां गए थे। उन्होंने अपनी रिपोर्ट में लिखा था– "फिजी की हिन्दू स्त्रियों का समाज एक ऐसी किश्ती के समान है जिसमें पतवार नहीं, जिसका मस्तूल टूट गया है और जो चट्टानों की ओर बही चली जा रही है। अथवा वह एक ऐसी डोंगी के समान है जो एक बड़ी नदी की तेज धारा के प्रवाह में चक्कर खाती हुई नीचे चली जा रही है और जिसका खेवैया नहीं है। फिजी की हिन्दू स्त्रियां एक पुरुष को छोड़ कर दूसरे पुरुष के पास चली जाती हैं और इस परिवर्तन से उनको बिल्कुल लज्जा नहीं आती है। हिन्दु पुरुषों का समाज भी छिन्न-भिन्न हो गया है। पत्नी खरीद-फरोख्त की एक वस्तु बन गई है और उसके लिए लोग आपस में लड़ते हैं, आत्मघात करते हैं, पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष करते हैं और एक दूसरे की हत्या तक कर बैठते हैं।"[14]

महिलाओं को अपने पति के अतिरिक्त अनेक पुरुषों के साथ सम्बन्ध स्थापित करना पड़ता था। फिजी में पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं की संख्या कम थी इस कलंकित व्यवस्था का एक कलंकित अध्याय यह था कि अंग्रेज इस व्यवस्था को बनाये रखने के लिए अनैतिक कार्यों को पूर्ण संरक्षण प्रदान करते थे। अपने सतीत्व की रक्षा के लिए भारतीय नारियों को अपने प्राणों की बलि देनी पड़ती थी। जैसा की

मैथिलीचरण गुप्त ने लिखा–

देखो, दूर खेत में है वह कौन दुःखिनी नारी,
पड़ी पापियों के पाले है वह अबला बेचारी।
देखो, कौन दौड़कर सहसा कूद पड़ी वह जल में।
पाप जगत से पिण्ड छुड़ाकर डूबी आप अतल में।।[15]

19वीं और 20वीं शताब्दी में फिजी में जन्म लेने वाले भारतीय बच्चों की स्थिति अत्यंत खराब थी वे बच्चे ऐसी स्थिति में पाले जाते थे और ऐसे दृश्य इनकी आँखों के सामने आते थे जो बच्चों के लिए अत्यंत हानिकारक होते हैं। ये भोले–भाले बच्चे बाल्यावस्था से ही पाप की बातें सोचने लग जाते थे। न उन्हें कोई शिक्षा मिलती थी और न उनसे कोई धर्म की बात कहता, कितनी ही बार तो ऐसा होता था कि उन्हें बाप और माँ का पता नही होता था।

भारत के बहुत कम लोग यह जानते हैं कि कुली प्रथा बन्द कराने में सी.एफ एण्ड्रयूज का बहुत बड़ा योगदान है। एण्ड्रयूज एक अंग्रेज होते हुए भी भारतवासियों के कल्याण के लिए जीवन भर कार्य करते रहे। कुली प्रथा को खत्म करने के महात्मा गांधी के साथ यह तय किया कि जेल चले जायेंगे लेकिन इस कुप्रथा को जारी नहीं रहने देंगे। कुली प्रथा को समाप्त करने के लिए 1917 में संयुक्त प्रान्त में आन्दोलन शुरू किया गया। समाचार पत्रों में भारतीयों की दुर्दशा के समाचार प्रकाशित करवाये गये। मद्रास में श्रीमती ऐनीबेसेन्ट की अध्यक्षता में ऐन्टी इनडेंचर लीग की स्थापना की गई।

पूना में तिलक का आशीर्वाद प्राप्त किया गया। फिजी में बाबा रामचन्द्र, तोताराम सनाढ्य जैसे अनेक लोगों ने प्रवासी भारतीयों में चेतना जागृत की तब जाकर 1921 में इस कुप्रथा का अन्त हुआ।

फिजी से लौटकर आने वाले भारतीयों को अपने देश की भूमि पर पहुँचकर जो सुख प्राप्त हुआ उसका वर्णन मैथिलीशरण गुप्त की इन पंक्तियों में वर्णित है–

उतर नाव से सिर पर रक्खी सबने भारत की वह धूल,
जिस पर प्रकृति चढ़ा रखती है रंग बिरंगे सुरभित फूल।
किया चिबुक चुम्बन समीर ने देकर हमें सुरभि–उपहार,
पल्लव–पाणि–युक्त विटपों ने किया सहज स्वागत सत्कार।।

सन्दर्भ

1. Henrg George Liddell nd Robert scott. A Greek-English Lexicon. । 2. Coben Robin–Global Diaspora: An Introduction UCL press, London–1997.। 3. Oxford English Dictionary online. November 2010.। 4. श्री मैथिलीशरण गुप्त – किसान पृष्ठ संख्या 27। 5. तोताराम सनाढ्य–फिजी में मेरे 21 वर्ष। 6. बनारसीदास चतुर्वेदी – आधुनिक भारत के निर्माता– भारत भक्त ऐण्डुयज, पृ० संख्या 104 । 7. श्री मैथिलीशरण गुप्त – किसान पृष्ठ संख्या 31। 8. श्री मैथिलीशरण गुप्त – किसान पृष्ठ संख्या 29। 9. डॉ. प्रभात कुमार भट्टाचार्यः– गाँधी दर्शन पृ. 2। 10. एम. के गाँधी–माई एक्सपेरिमेन्ट इन ट्रुथ खण्ड क पृ. 107। 11. बनारसीदास चतुर्वेदी–आधुनिक भारत के निर्माता–भारत भक्त ऐण्ड्रयूज, पृ संख्या 138–39 । 12. तोताराम सनाढ्य–फिजी में मेरे 21 वर्ष। 13. श्री मैथिलीशरण गुप्त – किसान पृष्ठ संख्या 32। 14. सी.एफ एण्ड्यूज की रिपोर्ट, आधुनिक भारत के निर्माता - भारत भक्त एण्ड्यूज, पृ संख्या 141–42। 15. श्री मैथिलीशरण गुप्त – किसान पृष्ठ संख्या 31।

कार्यवाहक प्राचार्य एवं विभागाध्यक्ष
राजकीय महाराणा प्रताप महाविद्यालय,
रावतभाटा (राज.)

1976 में रानीगंज गया तब वहां मेरे मेजबान मित्र ने एक मकान को दिखाते हुए कहा कि यह अंग्रेजों का कुली डिपो था जिसके के तहखाने में बिहार, उत्तरप्रदेश से दलालों द्वारा अच्छी जिंदगी के सपने दिखाकर लाये गये किसानों-मजदूरों अर्थात कुलियों को भर दिया जाता था, जिनमें से कुछ तो यहीं मर

जाते थे। यहाँ से इनको अपर आसाम में अंग्रेजों के चाय बगानों में भेजा जाता था अथवा कलकत्ता बंदरगाह से फिजी, सूरीनाम, मारीशस आदि अंग्रेज जमींदारों के उपनिवेशों में काम करने के लिए जहाजों पर लदान कर दिया जाता था जहां से वे बदनसीब लोग कभी वापस नहीं आ सकते थे। वहीं आधा पेट चावल और अंग्रेज जमींदारों के कोड़े खाकर उनके बगानों, खेतों में हाड़तोड़ मेहनत करते हुए इनकी जिंदगी तमाम हो जाती थी। फिजी आदि दूर देशों में गये लोगों को डायस्पोरा या निर्वासित कहा जाता है, जबकि अपने मूल स्थान से हमेशा के लिए आसाम चले गये लोगों को भी डायस्पोरा या निर्वासिन कहा जा सकता है। आसाम निर्वासित हो गये लोगों को लेकर मुल्कराज आनन्द द्वारा रचित अंग्रेजी उपन्यास (हिन्दी अनुवाद - एक कली दो पत्तियाँ) तथा फिजी आदि देशों में भारतीय निर्वासितों को लेकर कुशवाहा कान्त द्वारा रचित उपन्यास 'दानव देश' में इन निर्वासितों या कुलियों के नारकीय जीवन एवं अंग्रेज जमींदारों की क्रूरताओं का रोंगटे खड़े कर देने वाला चित्रण हुआ है। फिजी आदि देशों के भारतीय निर्वासित तो अब स्वायतशासी हैं जबकि आसाम में चाय बागानों के कुलियों के पशुवत जीवन में आजादी के बाद भी थोड़ा ही अंतर आया है

- डॉ. बाबूलाल शर्मा

क्या है प्रकृति

हम जीवन में आज तक चिंता सिर्फ उस चीज की करते रहे, जो नहीं मिली थी। परंतु उन चीजों से हटकर भी एक चीज है 'जो नहीं है' नहीं, बल्कि 'जो है'! तो मनुष्य की असली प्रकृति क्या है? वह प्रकृति जो बहुत प्रबल है। एक बार एक ऋषि अपने आश्रम वापस जा रहे थे। उन्हें सड़क किनारे एक छोटी-सी चुहिया मिली। उन्होंने उसे उठा लिया। वह बहुत प्यारी थी। ऋषि ने सोचा कि मेरी कोई संतान नहीं है, तो उन्होंने तपस्या के बल पर उस चुहिया को मनुष्य का रूप दे दिया। पत्नी से कहा कि आज से यही हमारी संतान है। ऋषि की पत्नी भी बहुत खुश हो गयीं। धीरे-धीरे वह बड़ी हो गयी। वह बहुत ही सुंदर तथा बुद्धिमान थी! एक दिन ऋषि ने उसका विवाह करने की सोची। उसकी वर ढूंढने के लिए ऋषि पहले सूर्य के पास गये। सूर्य से कहा कि मेरी एक बेटी है। क्या आप उससे शादी करना चाहेंगे? सूर्य ने कहा, हां, मैं उससे शादी करूंगा। वे घर आये और बेटी को बताया कि सूर्य भगवान तुमसे शादी करने के लिए तैयार हैं। उसने मायुस होकर कहा, नहीं, मैं सूर्य भगवान के साथ शादी नहीं करूंगी। ऋषि को अचंभा हुआ! उन्होंने कहा, कोई बात नहीं, मैं तुम्हारे लिए दूसरा वर ढूंढता हूं। ऐसे करते-करते ऋषि पहाड़, चंद्रमा, समुद्र, वायु सभी के पास गये। परंतु सबके प्रस्ताव को उसने ठुकरा दिया। अब ऋषि को चिंता हुई कि इसकी शादी कैसे होगी। इसे तो कोई पसंद नहीं आ रहा है। एक दिन ऋषि उससे बात कर रहे थे, तभी एक चूहा कमरे से निकला और दूसरी तरफ भागा तो उस लड़की ने कहा, पिताजी, मैं उस चूहे से शादी करूंगी। वह मुझे पसंद है। इसका अर्थ हुआ कि उसे मनुष्य शरीर तो मिल गया, परंतु उसकी प्रकृति नहीं छूटी। प्रकृति वैसी ही रही। हमारी प्रकृति भी ऐसी ही है, सब कुछ मिल जाने के बाद भी आनंद और शांति पाने की इच्छा हमेशा बनी रहती है। हम उसको जाने, अनुभव करें तो हमारा जीवन भी आनंदमय और खुशहाल हो सकता है।

- प्रेम रावत

अजमेर के ऐतिहासिक और दर्शनीय स्थल

उर्मिला शर्मा

भारत के सबसे विशाल राजस्थान प्रान्त के हृदय प्रदेश के रूप में चर्चित 'अजमेर' देश का एक ऐसा नगर है जहां सदियों से हिन्दू-मुस्लिम समन्वित संस्कृति के दर्शन हैं। यह नगर अपने अतीत से ही सुन्दर समन्वयी विविध संस्कृति और गौरवशाली इतिहास के कारण विख्यात रहा है। विश्व की सबसे प्राचीन अरावली पर्वतमाला की गोद में बसा अजमेर इसी पर्वतमाला से प्रवाहित होती शीतल जलधाराओं से अभिसिंचित होकर पर्यटकों के मन को हरा-भरा बना देता है।

अनेकानेक तालाबों और पोखरों से प्राकृतिक रूप में सजी संवरी यहां की प्रसिद्ध आनासागर झील पर जब इस नगर के प्रकाश की किरणें रात्रि को पड़कर झिलमिलाती हैं तब देशी विदेशी पर्यटक इस नगर के सौन्दर्य को अपने कैमरों में कैद करने के लिए रात्रि में दौड़ते नजर आते है।

चन्द्रमा की ज्योत्सना में नहाई हुई आनासागर की श्वेत छतरियों की झिलमिलाती आकृतियां यहां के मध्ययुगीन शासकों के युग की कलाप्रियता की कहानियां कहती है। अजमेर की यह आनासागर झील उत्तरी भारत की एक मात्र ऐसी सुन्दर और मनोरम झील है जिसके दर्शन कर इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध राजदूत सर टामस रो सहित लार्ड विलियम बैटिंग और इंग्लैण्ड की रानी मेरी ने अपने जीवन को धन्य माना था। अजमेर भारत देश का वह इतिहास प्रसिद्ध स्थल है जहां अन्तिम हिन्दू सम्राट पृथ्वीराज चौहान साम्राज्ञी संयोगिता का प्रणयालाप स्पंदित है। चौहान सम्राट विग्रहराज के नाटक हरिकेलि, महाकवि चन्द्रबरदायी की शौर्य कविताएं, महाराण कुम्भा की पदचापें और वीर योद्धा दुर्गादास राठौड़ के अश्वों की टापें आज भी इस नगर की सुदीर्घ वादियों में गूंजती हैं।

मुहम्मद गौरी, शेरशाहसूरी, अकबर, जहांगीर, शाहजहां और आलमगीर औरंगजेब जैसे शहंशाहों से लेकर कर्नल जेम्स टाड जैसे इतिहासकार की आकर्षण स्थली रहे अजमेर नगर ने भारतदेश को भारतीय आर्य समाज के प्रतापी प्रवर्तक महर्षि दयानन्द सरस्वती जैसे महान क्रांन्तिकारी संत की आलौकिक सुगन्ध भी प्रदान की है।

यहां की महान सूफी दरवेश ख्वाजा मोईनुद्दीन चिश्ती की विशाल दरगाह से हिन्दू-मुस्लिम एकता की विराट धारा विश्वभर में निरन्तर प्रवाहित होती है। ब्रिटिश युगीन भारतीय रजवाड़ों के राजकुमारों की शिक्षा का एक मात्र विद्यालय 'मेयो कॉलेज' भी इस नगर में है, जो आज भी

अपनी विशिष्टता तथा शैक्षिक स्तर से अनेक विदेशी पर्यटकों तथा विद्यार्थियों के आकर्षण का खासा केन्द्र है।

अजमेर नगर की सांस्कृतिक विरासत, रंग-बिरंगी परम्पराएं, मनोहारी सैरगाह और हरी-भरी पहाड़ियों की विस्तृत शृंखला से निकलती शीतल जल की धारायें इस नगर में सुखद रंग भर देती हैं। मेहमानवाजी के लिये अजमेर का शुद्ध देशी घी और आटे से बना 'सोहन हलवा' विदेशी पर्यटकों के मुख से ऐसी मिठास भर देता है जिसकी सुगन्ध और जायके से खिंचकर सात समन्दर पार से वे इसे बार-बार मंगाते हैं।

राजस्थान के प्रथम साक्षर जिले के रूप में चर्चित अजमेर नगर 55.76 वर्ग किमी के क्षेत्र में बसा हुआ है। 26॰.27' उत्तरी अक्षांश एवं 74॰.37' पूर्वी देशान्तर पर स्थित यह नगर रेल मार्ग द्वारा दिल्ली से 378 किमी, मुम्बई से 982 किमी तथा आगरा से 378 किमी दूर है। राजस्थान की राजधानी जयपुर से यह नगर 138 किमी दूर है, जो रेल और सड़क मार्ग से जुड़ा हुआ है। इस नगर में पर्यटकों के ठहरने के लिए विश्वस्तरीय होटल व टैक्सियां उपलब्ध हैं। समुद्रतल से 486 मीटर की ऊंचाई पर बसे अजमेर नगर में घूमने का उपयुक्त समय वर्ष में अक्टूबर से मार्च माह तक होता है। अजमेर पहुंचने का सबसे निकटतम हवाई अड्डा जयपुर है।

अजमेर नगर की स्थापना चौहान राजपूत राजा अजयपाल ने 11वीं सदी में किया था। इस स्थान के पर्वतीय (मेरु) क्षेत्र में स्थापित होने से इस नगर का नाम 'अजयमेरु' रखा गया जो बाद में 'अजमेर' हो गया। मध्ययुग में यहां के प्रतापी शासक पृथ्वीराज चौहान हुए जिनका साम्राज्य विस्तार दिल्ली तक था। बाद में अनेक मुगल सम्राटों ने इस नगर में अपने जीवन के सुन्दर समय को भोगा और राजनीति का केन्द्र बनाया। ब्रिटिश युगीन भारत में अजमेर मेरवाड़ा का यह क्षेत्र एक "केन्द्रीय कमिश्नरी प्रान्त" के रूप में था। उस समय यह राजपूताना की समस्त रियासतों का मुख्यालय था। इस कारण ब्रिटिश भारत में इस नगर को 'राजपूताना' की कुंजी कहा जाता था, इस नगर के प्रमुख ऐतिहासिक और दर्शनीय स्थलों का परिचय इस प्रकार है–

तारागढ़

इस दुर्ग का निर्माण चौहान राजा अजयपाल ने 7वीं सदी में इस क्षेत्र की सर्वोच्च पहाड़ी (मेरु) पर करवाया था, जिस कारण इसे 'अजेयमेरु दुर्ग' कहा गया। यह 2 कि.मी. के क्षेत्र में फैला ऐसा दुर्ग है जिसकी प्राचीरें पहाड़ी के अन्दर की ओर बनायी गयी हैं। इसकी प्राचीरों की चौड़ाई भी 20 फुट से ज्यादा है। इस दुर्ग का निर्माण टेढ़ा होने से यह सुरक्षा की दृष्टि से काफी सुदृढ़ है। इसमें पर्वत को काटकर पानी के टैंक बनाये गये हैं जिसमें प्रचुर मात्रा में जल रहता है। जल की प्रचुरता के कारण यहां अनेक कुएं भी बने है जो आक्रमण के दौरान दुर्ग के अन्दर काफी लाभदायक होते थे। इसमें अनेक कुएं ऐसे है जिनमें अन्य खाद्य सामग्री का संकट काल में बिपुल संग्रह किया जाता था। कुओं की अधिकता के कारण इसे उत्तरी भारत का 'जिब्राल्टर' भी कहा जाता है। इसे भारत का प्रथम पर्वतीय दुर्ग होने का भी गौरव प्राप्त है।

इस दुर्ग पर 11वीं सदी में मोहम्मद गजनवी ने आक्रमण किया था तथा यहां से वह घायल होकर लौटा था। सन् 1192 ई. के आस-पास इस दुर्ग पर पृथ्वीराज चौहान के भाई हरिराज का आधिपत्य हो गया था। 1195 ई. में कुतुबुद्दीन ऐबक ने इस पर अपना आधिपत्य जमाया। इस प्रकार यह दुर्ग लम्बे समय तक दिल्ली और गुजरात के शासकों की राजनीति का केन्द्र बना रहा। सन् 1505 ई. में मेवाड़ के राणा रायमल के कुंवर पृथ्वीराज ने इस दुर्ग पर अपना आधिपत्य जमाया और अपनी पत्नि तारा के नाम पर इसका नाम 'तारागढ़' रख दिया था। कालान्तर में मेवाड़, मारवाड़ से लेकर दिल्ली सल्तनत तक के शासकों ने इस दुर्ग को जीतने के लिये एक दूसरे से खूब युद्ध किये। अकबर से लेकर दाराशिकोह

और औरंगजेब तक ने इस दुर्ग को अपनी केन्द्रीय सत्ता को मजबूत करने के लिये विजित किया था। इस प्रकार सन् 1720 ई. तक यह दुर्ग मुगल बादशाहों के आधिपत्य में रहा बाद में यह मराठों एवं राठौड़ शासकों के हाथों में होता हुआ सिन्धयां शासकों की ललचाई दृष्टि का केन्द्र बना।

इस दुर्ग में प्रवेश करने के लगभग 6 मार्ग हैं जो अत्यन्त दुर्गम संकरे हैं। ये मार्ग शत्रुआं के लिये भूलभुलैया होते थे। इस दुर्ग की सुरक्षा के लिये 14 बुर्जियां है, जिनके आसपास विकट चट्टानें होने से यहां तक पहुंचना शत्रुसेना के लिये आसान नहीं था। दुर्ग में लगभग 11 फीट की ऊंचाई के 30 कलात्मक स्तम्भ यहां की स्थापत्यकला के सुन्दर उदाहरण है जिन्हें देखकर पर्यटक ठगे से रह जाते है। लगभग डेढ़ दशक पूर्व इस दुर्ग के ही निकट की पहाड़ी पर स्थापित की गई सम्राट पृथ्वीराज चौहान की प्रतिमा ने तो मानों तारागढ़ के सौन्दर्य को द्विगुणित कर दिया है।

ख्वाजा मोईनुद्दीन चिश्ती की दरगाह –

अजमेर नगर में विश्वभर के मुस्लिमों का मक्का के बाद द्वितीय श्रद्धा स्थल ख्वाजा मोईनुद्दीन चिश्ती की दरगाह है। ख्वाजा साहब भारत से सूफी परम्परा के महान दरवेश थे। उनका अन्तिम समय इसी नगर में व्यतीत हुआ और यहीं उनकी आरामगाह है जिसे दरगाह कहा जाता है। वे 12वीं सदी के अन्त में इस नगर में आये थे और यहीं से पूरे देश में उन्होंने सूफी भक्ति साधना और सहिष्णुता का दिव्य संदेश दिया था। उनके कई चमत्कारी किस्से यहां प्रचलित है। अजमेर स्थित उनकी विशाल दरगाह संगमरमर से बनी हुई है। इसके ऊपर आकर्षक सुनहरा गुम्बद है। ख्वाजा साहब की मजार पर मखमल की गिलाफ चढ़ी हुई है। इसके चारों ओर चांदी के कटघरे बने है। बस इसी स्थल पर चन्द लम्हें गुजारने की तमन्ना लिये देश-विदेश से जायरीन आते हैं और इन चमत्कारी महान दरवेश से निकटस्थ सम्पर्क स्थापित कर 'सत्यम् शिवम् सुन्दरम्' की मानवीय कल्पना में स्वयं को भूल जाते हैं। यहीं वह पवित्र स्थल है जहां मनुष्य-मनुष्य के बीच व्याप्त धर्म और जाति के सारे भेद समाप्त हो जाते हैं। यहां गुलाब के फूलों, चन्दन और अगरबत्ती एवं लोबान की महक उठती रहती है। ख्वाजा साहब की मजार का गुम्बद गयासुद्दीन ने बनवाया था जबकि इस पर नक्काशी का काम सुल्तान महमूद बिन नासिरूद्दीन के समय हुआ था। मजार का द्वारा माण्डू के बादशाह ने एवं कटहरा बादशाह जहांगीर ने निर्मित करवाया था, इस मजार के द्वार पर अकबर द्वारा भेंट की हुई कलात्मक किवाड़ों की जोड़ी लगी हुई है जो मध्ययुगीन कला का उत्कृष्ट नमूना है।

दरगाह में ही सुन्दर नक्कारखाना बादशाह शाहजहां ने लाल पत्थर से निर्मित करवाया था। इसके ऊपर अकबरी नक्कारें रखे हुए है। दरगाह में एक महफिलखाना भी है, जहां उर्स के दौरान सूफी कव्वालियां होती है। इसमें अति सुन्दर झाड़फानूस लगे हैं। इसका निर्माण 122वर्ष पूर्व हैदराबाद के नवाब बशीरूद्दौला ने करवाया था। यहां एक सुन्दर एवं 15फीट ऊंची लाल पाषाण की मस्जिद भी है जिसे अकबर ने बनवाया था। दरगाह परिसर में अकबर एवं जहांगीर द्वारा भेंट की गई 2 देग भी है जिनमें 80 और 100 मण का उर्स के दौरान शुद्ध देशी घी से बना 'प्रसाद' (तबर्रूख) बनाया जाता है।

प्रतिवर्ष ख्वाजा साहब की दरगाह पर वर्ष की पहली रजब से 9 रजब तक विशाल उर्स मनाया जाता है, जिसमें देश विदेश के हजारों श्रद्धालु और विविध धर्मों के परिवार भाग लेते हैं। उर्स के दौरान पूरा अजमेर नगर हिन्दू मुस्लिम एकता और मानवता की जीती जागती तस्वीन बन जाता है।

यहां ईश्वरीय आराधना करते हुए ख्वाजा साहब ने अपने जीवनकाल में दो पुस्तकें 'अनीसुल अरवाह' एवं 'गंजुल असरार' लिखी। इनमें उनके उच्च्य आध्यात्मिक विचारों के दर्शन होते हैं। रहस्यवादी चिन्तन पर इन पुस्तकों को विश्व में उच्च्य कोटि की माना जाता है। ख्वाजा साहब शायर भी थे। उनकी

शायरी का संकलन 'दीवाने-मुईन' नाम से है जिसमें उनकी 250 शायरी को सम्मिलित किया गया है। उन्होंने अपने जीवन में अनेक सुन्दर उपदेश दिये जिनमें से एक यह भी है–"मानव के जीवन में सबसे अनमोल क्षण वे होते हैं जब वह अपनी स्वयं की इच्छाओं पर पूरी तरह काबू पा लेता है।"

आनासागर झील –

आनासागर झील भारत के सुन्दरतम पर्यटन स्थलों में से एक है। अजमेर नगर के पर्यटन वैभव के विस्तार का बड़ा श्रेय इसी झील को जाता है। इसका निर्माण सम्राट पृथ्वीराज चौहान के दादा अर्णोराज चौहान ने सन् 1133 में करवाया था। उन्होंने निकट के पुष्कर तीर्थ की चन्द्रा नदी के जल को यहां तक लाकर इस झील को लबालब किया था और इसके चारों ओर विशाल पक्की दीवार का निर्माण करवाया था। इस झील के कारण ही फिर अजमेर नगर का तीव्र विकास संभव हुआ।

इस सुन्दर झील के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर मुगल बादशाहों ने अजमेर को बड़ा महत्व दिया। मुगल बादशाह शाहजहां तो इस झील के सौन्दर्य पर इतना मुग्ध हुआ था कि उसने सन् 1637 ई. में इसमें चार कलात्मक छतरियां एवं खामंखा द्वार बनवाकर इसके सौन्दर्य में चार चांद लगा दिये थे। उसने इसके किनारे एक आलीशान बाग भी बनवाया था जिसे दौलत बाग (वर्तमान में सुभाष उद्यान) कहा गया। ब्रिटिश कालीन अधिकारी तो इस झील के दीवानें थे। उन्होंने यहां सांय व रात्रि में अपना समय आमोद-प्रमोद में खूब व्यतीत किया। आज भी यह झील देशी-विदेशी पर्यटकों के लिये एक सुन्दरतम स्थल है। रात्रि में बिजली के रंग-बिरंगे प्रकाश से इस झील का स्वर्णिम सौन्दर्य दमक उठता है।

सोनीजी की नसियां –

इस सुन्दर और स्वर्ण रंग युक्त ऐतिहासिक नसियां का निर्माण सन् 1865 ई. में यहां के सेठ मूलचन्द नेमीचन्द सेठी ने करवाया था। उन्होंने इसमें जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव (आदिनाथ) की मूर्ति भी स्थापित करवायी थी। इस विशाल नसियां के दो भाग है। इसमें नसियां वाले भाग में जैनधर्म के समस्त विधान एवं जैन तीर्थंकरों की बेशकीमती और इतिहास की दृष्टि से उत्तम मूर्तियां है। इसके द्वितीय भाग को स्वर्णहाल कहा जाता है। इसकी दीवारों और छतों पर शुद्ध स्वर्ण का ऐसा अद्भुत और सुन्दर कार्य है जिसे देखकर विदेशी पर्यटक तथा वस्तुविद् भी चकित रह जाते हैं। इसके लाल मंदिर के निर्माण में 400 किलो स्वर्ण धातु का प्रयोग किया गया था। इस हाल के परिसर में जैनधर्म का 26 मीटर ऊंचा सुन्दर जैन मान स्तम्भ है। इस भवन में जैन पंचकल्याणक, तेरह द्वीप, सुमेरू पर्वत, आदि का निर्माण जीवन्तता से किया गया है। इस भवन का निर्माण दो मंजिला होने पर भी यह चार मंजिला दिखाई देता है। भवन के शीर्ष पर एक विशाल गुम्बद और 8 लघु गुम्बद है। इसके चारों और कलात्मक छतरियां बनी हुई है। गुम्बद एवं छतरियों के ऊपर स्थापित स्वर्ण कलश इसकी शोभा में द्विगुणी अभिवृद्धि करते हैं। इस स्वर्ण हॉल पर रात्रि के समय जब बिजली का प्रकाश चारों ओर से पड़ता है तो यह देवराज इन्द्र की स्वर्ण नगरी सा लगता है।

राजपूताना म्यूजियम–

ब्रिटिश सरकार ने सन् 1908 ई. में इस म्यूजियम की स्थापना यहां स्थित अकबर के किले में की थी। इसे राजपूताना म्यूजियम का नाम देकर इसका प्रथम अध्यक्ष प्रसिद्ध पुरात्ववेता गौरीशंकर हीराचन्द ओझा को बनाया था। इस म्यूजियम में अजमेर सहित राजस्थान की अनेक रियासतों से प्राप्त दुलर्भ इतिहास सामग्री का सुन्दर प्रदर्शन किया गया है। यह म्यूजियम भारत के चन्द समृद्ध म्यूजियमों में से एक है जहां गुप्तकाल से लेकर निरन्तर 12वीं सदी तक की सुन्दर और दुर्लभ मूर्तियों का प्रदर्शन किया गया है। यहां कामां की वैवाहिक मूर्ति, चतुर्मुखी शिव, लिंगोद्भव शिवलिंग, शिव-पार्वती, सूर्य, त्रिमुखी विष्णु, हरिहर, लक्ष्मीनारायण, सूर्य पुत्र रेवन्त, सप्तमातृका,

महिषासुरमर्दिनी, काली, जैन सरस्वती, गणेश, नागकन्या आदि की मूर्तियां शिल्प अध्ययन की दृष्टि से भारत प्रसिद्ध है। यहां जैन तीर्थंकरों की मूर्तियां भी बड़ी संख्या में है।

यहां के शिलालेख कक्ष में सर्वाति प्राचीन लेख वि.स. 703 का है जो सम्राट शिलादित्य का है। यहां बालीग्राम का ईसा से 1400 वर्ष पुराना ब्राह्मीलिपि का शिलालेख मूलतः भारत देश में अब तक के प्राप्त सैकड़ो लेखों में सबसे पुराना शिलालेख माना जाता है। यहां 12वीं सदी का एक ऐसा भी शिलालेख है जिसमें विष्णु के दशावतारों का सुन्दर उल्लेख है। इसमें 33वीं श्लोक के अन्तर्गत एकरोचक तथ्य यह है कि यहां सूर्यदेव को भगवान विष्णु का दायां नेत्र बताया है। यहां 4 थी से 15 वीं सदी के विभिन्न शासकों के दुर्लभ ताम्र पत्र भी प्रदर्शित है। यहां प्रदर्शित प्राचीन मुद्राओं में पंचकमार्ग, इण्डोग्रीक, इण्डोसीसानियन, क्षत्रप, कुषाण और गुप्तकाल की स्वर्ण, रजत व ताम्र की मुद्राएं देखने योग्य है। इनके साथ ही यहां मुगलों व पठान शासकों की मुद्राएं प्रदर्शित है। यहां के चित्र कक्ष में ऐसे दुर्लभ, प्राचीन और हस्तनिर्मित चित्र है जो देश के चन्द म्यूजियम में ही होंगे। इनमें अकबर के नवरत्न बीरबल, बादशाह फर्रूखसीयर सहित अनेक भारतीय राजाओं के चित्र प्रमुख है। यहां की अस्त्र-शस्त्र में धनुष, तीर, तीरों की नोकें, भालें, तलवारें, ढ़ाल, फरसा, कटार आदि है। एक अलग खण्ड में यहां 500 से अधिक पुरा सामग्री का प्रदर्शन किया गया है, जिसमें मोहनजोदड़ो से प्राप्त कई पुरा सामग्री भी है। यह म्यूजियम अकबर के किले में स्थित है। इसका निर्माण अकबर ने सन् 1570 ई. में करवाया था। इस किले के मुख्य द्वार का निर्माण बादशाह जहांगीर ने करवाया था। वह प्रतिदिन इस द्वार के झरोखें में बैठकर आम जनता को दर्शन देता था और यहीं से न्याय करता था। इसी क्षरोखें से उसने 10 जनवरी सन् 1616 ई. को इंग्लैण्ड के सम्राट जैमस प्रथम के राजदूत सर आमस रो को भारत देश में प्रथम बार व्यापार करने का फरमान (व्यापार पत्यय पत्र) जारी किया था। इस द्वार के शीर्ष पर स्थित दो सुन्दर कलात्मक छतरियों से अजमेर नगर का विहंगम दृश्य देखकर पर्यटक मंत्र मुग्ध हो जाते हैं।

ढ़ाई दिन का झोपड़ा –

यह मूलतः 12वीं सदी का प्राचीन विष्णु मंदिर था जिसे यहां के चौहान शासक बीसलदेव ने सन् 1153 ई. में कलात्मक रूप से निर्मित करवाया था। उसने इस मंदिर के साथ यहां 'सरस्वती कण्ठाभरण महाविद्यालय' बनवाकर इसके आसपास विशाल आयताकार बरामदे बनवाये थे। यह मंदिर तथा भवन उस युग में अपनी स्थापत्य कला एवं साहित्य साधना के कारण देशभर में विख्यात था। सन् 1192 ई. में मोहम्मद गौरी ने अजमेर पर आक्रमण कर इस स्थान को पूर्णतया नष्ट करके यहां मात्र ढ़ाई दिन में एक मस्जिद का निर्माण करवा दिया था तभी इसे "ढ़ाई दिन का झौंपड़ा" कहा जाने लगा। पुरातत्ववेत्ता कनिंघम ने इस स्थान पर सर्वेक्षण कर यहां हिन्दू स्थापत्य की अनेक सामग्री ढूंढ निकाली थी। यहां से प्राप्त पुरा सामग्री में अनेक देवी-देवीं के साथ विविध नक्षत्रों, महिनों की सुन्दर मुर्तियां अब राजपूताना म्यूजियम में प्रदर्शित है।

मेयो कॉलेज –

भारत देश का 'ईटन' कहे जाने वाले इस कॉलेज की स्थापना इस नगर में ब्रिटिश वायसराय गर्वनर जनरल लार्ड मेयो ने की थी। इस योजना के मुख्य सूत्रधार प्रसिद्ध ब्रिटिश समाज शास्त्री कर्नल वाल्टर ने तब कहा था कि -"भारतीय युवा पीढ़ी विशेषकर राजाओं के राजपुत्रों में, परिवर्तित होते वैश्विक परिवेश के अनुरूप भावनाएं जाग्रत करने तथा उन्हें एक श्रेष्ठ व्यक्ति बनाने के लिए इस देश में 'ईटन' जैसी संस्था की आवश्यकता है जो 'मेयो कॉलेज' के रूप में हमारे समक्ष है।" इस कॉलेज में भारतीय रजवाड़ों के राजकुमारों को दक्ष प्राध्यापकों द्वारा हर प्रकार की शिक्षा दी जाती थी। ब्रिटिश युगीन भारत में

अजमेर के इस कॉलेज से प्रिन्स ऑफ वेल्स (किंग एडवर्ड सप्तम) इतने अधिक प्रभावित हुए थे कि उन्होंने इसे 'पूर्व का ईटन' की संज्ञा दी थी।

मेयो कॉलेज का संग्रहालय दुनिया की शिक्षण संस्थाओं में बड़ा अद्भुत है। इस संग्रहालय में भारतीय और मिश्र की संस्कृति के प्राचीन आवशेषों को प्लास्टर ऑफ पेरिस की अनुकृतियों से जीवन्त रूप में सजाया गया है। यहां छठी सदी ईस्वी से 12 वीं सदी के मध्य के भारती पुरा अवशेष देखने लायक है। यहां 17वीं, 18वीं सदी की हस्तनिर्मित पेंटिंग्स, फोटोग्राफ, भारत के विभिन्न कालखण्डों के सिक्के, विभिन्न पक्षियों के अण्डे, काष्ठ जीवाश्म, खनिज पदार्थ, विभिन्न पोशाकों के साथ कई प्रकार की बनस्पतियों के नमूने संग्रहित है जिन्हें देखकर पर्यटक और शोथार्थी अपने आपको किसी अद्भुत संसार में खोया हुआ पाता है।

फायसागर झील –

इस सुन्दर झील का निर्माण अजमेर से मात्र 7 किमी दूर बांड़ी नदी के केचमेन्ट एरिया पर सन् 1891-92 ई. में अकाल राहत योजना कार्य के तहत यहां की नगर परिषद् ने करवाया था। चूंकि इस झील का निर्माण ब्रिटिश इन्जीनियर फाय ने करवाया था, अतः इसे 'फायसागर' झील कहा गया। 24फीट गहरी और 150 मिलियन फीट वाली यह झील अजमेर नगर की प्रमुख जलस्त्रोत है। उस समय इसके निर्माण की कुल लागत 2 लाख 69 हजार रु. बताई जाती है। वर्षा ऋतु में जब इस झील का जल अपने भराव पर आता है तो इसका खूबसूरत सौन्दर्य निखर उठता है और यह अच्छा खासा पर्यटन स्थल बन जाता है।

हैप्पी वेली –

तारागढ़ दुर्ग के पश्चिम दिशा की अरावली पर्वतमाला की गहरी घाटी में अत्यन्त शीतल और मीठे पानी का प्राकृतिक झरना प्रवाहित होता है। जहां बैठकर स्वर्गिक आनन्द उठाता है। इस कारण इसे "हैपी वेली" कहा जाता है। इस घाटी के प्रवेश पर बादशाह जहांगीर ने अपनी बेगम अनिद्य सुन्दरी नूरजहां के लिए एक खूबसूरत नूरमहल बनवाया था। हरीभरी पर्वत श्रृंखला और सघन वृक्षावली के मध्य यह स्थल पर्यटकों को असीम आनन्द की अनुभूति कराता है।

ऐतिहासिक तौर पर अजमेर नगर वह स्थल है जहां बादशाह शाहजहां के सबसे बड़े पुत्र दाराशिकोह का जन्म हुआ था। बादशाह अकबर भी अपने पुत्र सलीम की पैदाईशी इच्छा की मन्नत करने कई बार दिल्ली से अजमेर नगर स्थित ख्वाजा साहब की दरगाह में आया था। इस नगर के निकट स्थित 'दौराई' उस इतिहास प्रसिद्ध स्थल के रूप में जाना जाता है जहां बादशाह शाहजहां के पुत्रों के बीच दिल्ली की सत्ता का संघर्ष आरम्भ हुआ था। इसी के कारण फिर सन् 1659 ई. को इसी स्थान पर औरंगजेब ने अपने ही भाई दारशिकोह को परास्त कर दिल्ली सिंहासन अपने नाम कर लिया था।

अजमेर समूचे राजस्थान में माध्यमिक शिक्षा की परीक्षा कराने वाला तथा राज्य स्तरीय प्रशासनिक अधिकारियों के साक्षात्कार लेकर उनके चयन करने वाला ऐसा नगर है जहां भारत में सबसे पहले रेल के इंजन बनाये जाते थे। इस नगर क्षेत्र में विक्टोरिया टावर, सालारंगाजी, बड़ापीर, अजयपाल, बीसलसर, नूरचश्मा, पृथ्वीराज चौहान की आराध्या चावण्डा माता, कोटेश्वर महादेव, बापूगढ़, बजरंगगढ़, आदि ऐसे स्थल है जो अपने आप में इतिहास, पर्यटन तथा प्रकृति की रमणीयता लिये हुए है। अतः जो भी पर्यटक एक बार यहां आता है वह यहां की रंग बिरंगी संस्कृति और पर्यटन स्थों में रमकर वापस आने का वायदा करके ही जाता है।

व्याख्याता-इतिहास, सेन्ट्रल एकेडमी टीचर्स ट्रेनिंग कॉलेज, कोटड़ा अजमेर – 305004 (राज०) मोबा. 09929269650

●

आहड़ संस्कृति : उत्पत्ति, प्रसार, विशेषताएँ एवं पतन

प्रो. डॉ. ललित पाण्डेय

दक्षिण राजस्थान की आहड़ संस्कृति भारत में हड़प्पा संस्कृति के पश्चात् हुई अनेकानेक ताम्रपाषाण कालीन संस्कृतियों की एक प्रतिनिधि संस्कृति है। इसको पुरातत्ववेत्ताओं ने हड़प्पा संस्कृति या हड़प्पा के बाहर भारत में सर्वप्रथम विकसित संस्कृति स्वीकार किया है, जो कृषि अर्थव्यवस्था तथा सामुदायिक जीवन पद्धति पर आधारित थी। इस संस्कृति को बनास संस्कृति अथवा आहड़ संस्कृति कहा जाता है। कुम्भलगढ़ दुर्ग के समीप स्थित पर्वतों से प्रारम्भ होते हुए मेवाड़ के मैदानी इलाके में प्रवाहित बेड़च, कोठारी, खारी, दई, मानसी, धुड तथा मोरेल नदियां सवाई माधोपुर जिले में रामेश्वरम के समीप समाहित हो जाती हैं। इस संस्कृति के अधिकांश पुरास्थल बनास अथवा इसकी सहायक नदियों के तट पर ही हैं अतः इसे बनास संस्कृति कहा जाता है, परंतु सर्वप्रथम आहड़ में उत्खनन हुआ जिससे इसे आहड़ संस्कृति कहा गया। आहड़ उदयपुर से लेकर सवाईमाधोपुर तक अभी तक लगभग 109 स्थल खोजे गए हैं अर्थात् इन स्थलों में बनास संस्कृति की बस्तियाँ थीं। हाल ही में पुरातत्ववेत्ताओं द्वारा किए गए सर्वेक्षणों से यह भी ज्ञात हुआ है कि कतिपय स्थल माही, सोम, जाखम नदियों के तट पर भी स्थित थे, जो प्रमाणित करते हैं कि बनास संस्कृति मेवाड़ के साथ ही डूँगरपुर बाँसवाड़ा के क्षेत्र में भी पल्लवित हुई थी। लेकिन अभी तक पाँच स्थलों–आहड़, गिलुण्ड, बालाथल, ओझियाना और छतरीखेड़ा में ही उत्खनन हो सका है, उनमें भी बालाथल और गिलुण्ड ही दो ऐसे स्थल हैं, जहाँ पर क्षितिजाकार उत्खनन हो सका है। अभी तक ज्ञात स्थलों के आधार पर कहा जा सकता है कि इस ग्रामीण संस्कृति के गाँव 8 से 16 हेक्टेयर की परिधि वाले इन्साइक्लोपेडिया ऑफ आर्कियोलॉजी, वॉल्यूम–I, 2013, पृष्ठ–96)।

सुप्रसिद्ध इतिहासकार डॉ. गोपीनाथ शार्ग के अनुसार सर्वप्रथम उन्होंने आहड़ पर 1946 में **'फारगॉटन केपिटल्स ऑफ मेवाड़'** शीर्षक से एक शोधलेख मॉडर्न रिव्यू में प्रकाशित किया था। (शोध पत्रिका भाग 3 अंक 4, 1952, पृष्ठ 222)। शोध पत्रिका के उक्त अंक में उन्होंने पुनः धूलकोट (आहड़) में खोदी गई दो खाइयों पर प्रकाश शीर्षक से एक आलेख प्राकशित किया, जिसमें उन्होंने लिखा कि राजस्थान के पुरातत्व विभाग के तत्वावधान में तथा पं. अक्षयकीर्ति के सुयोग्य निरीक्षण में हाल ही में दो गहरी खाइयां महासती के पूर्वी भाग वाले धूलकोट में खोदी गई हैं, जिनकी लम्बाई, चौड़ाई तथा गहराई क्रमशः 12 फीट X 20 फीट X

32 फीट तथा 12 X 10 X 12 फीट है, जिनसे प्राप्त पुरावशेषों से तथा पुरातत्व एवं संग्रहालय विभाग, जयपुर के श्री रतनचन्द्र अग्रवाल के नेतृत्व में 1952 में एक परीक्षण खात (खाई) लगायी गयी, जिससे यह ज्ञात हुआ कि आहड़ में एक पूर्व लौहयुगीन संस्कृति का विकास हुआ था (आई ए आर, 1954–5, 14–15, 1955–6; 11) जिसके निवासी एक विशिष्ट प्रकार के मृद्‌भाण्डों का निर्माण करते थे, जिन्हें सफेद रंग से चित्रित, काले और लाल मृद्‌भाण्ड के नाम से जाना जाता है। अभी तक इस संस्कृति के अवशेष दक्षिण राजस्थान के अतिरिक्त मध्यप्रदेश के जावद, कायथा, दुगवाडा, झर्डा नागदा तथा ऐरण (आई ए आर 1956–57, 1957–58, 1958–59, 1961–62, 1969–70, 1970–71, हूजा 1988) से भी प्राप्त हुए हैं, जो इस संस्कृति के व्यापक विस्तार को प्रतिबिम्बित करते हैं। बनास संस्कृति का प्रतिनिधित्व उदयपुर के पूर्व में 3 कि.मी. की दूरी पर बनास की सहायिका नदी आहड़ में स्थित है। अनेक अभिलेखों और जैन पाण्डुलिपियों (इंडियन एन्टीक्यूटी) से यह ज्ञात होता है कि इस पुरास्थल का प्राचीन नाम आघाटपुर या आटपुर था। 10 वीं शताब्दी में इसको गुहिलों की राजधानी होने का गौरव भी प्राप्त हुआ, यहाँ के राणाओं के चित्तौड़गढ़ पलायन करने तक यह राजधानी बनी रही।

श्री रतनचन्द्र अग्रवाल के पश्चात् 1961–62 में एच.डी. संकालिया, डेकन कॉलेज, पूना तथा राजस्थान पुरातत्व एवं संग्रहालय विभाग, जयपुर के संयुक्त तत्वावधान में पुनः आहड़ में व्यापक पैमाने पर उत्खनन किया गया, जिसका उद्देश्य आहड़ संस्कृति के निवासियों की आर्थिक एवं सांस्कृतिक जीवन पद्धति को जानना तथा इस संस्कृति तथा मध्यप्रदेश व पश्चिम एशिया के ईरान के मध्य सम्बन्धों को समझना था। जब डॉ. संकालिया ने आहड़ में उत्खनन प्रारम्भ किया उस समय तक आहड़ पुरास्थल डामर सड़क द्वारा दो भागों में विभक्त हो चुका था, जिसमें दक्षिणी भाग अधिक वृहद तथा ऊँचाई लिए हुए था। इसकी माप लगभग 500X275 मीटर थी तथा सड़क से इसकी ऊँचाई 15 मीटर। 1961–62 के इस उत्खनन से पूर्व 1959 में भारतीय पुरातत्व विभाग, नई दिल्ली के डॉ बी. बी. लाल और बी. के. थापर द्वारा गिलुण्ड (राजसमन्द जिले में स्थित है) में उत्खनन किया जा चुका था, गिलुण्ड में भी संस्कृति के समान ही सांस्कृतिक पुरावशेष प्राप्त हुए थे। इन दोनों उत्खननों से प्रमाणित हो गया था कि आहड़ संस्कृति एक ताम्रधातु प्रधान संस्कृति थी। इसमें अभी तक प्रस्तर निर्मित ब्लेड और रघुअश्मीय उपकरणों को बनाना बंद नहीं हुआ था। यद्यपि इन पाषाण उपकरणों का अब इसमें अत्यन्त न्यून नगण्य उपयोग रह गया था। आई ए आर, 1955-56, पृ. 11, 1959–60 में वर्णित पाषाण उपकरणों का प्राप्त होना इस ओर संकेत करता है कि बनास संस्कृति सम्भवतः पूर्ववर्ती मध्यपाषाण कालीन संस्कृति के निवासियों द्वारा विकसित हुई होगी। राजस्थान का यह दक्षिणी भूभाग ताम्रपाषण कालीन संस्कृति के समान ही मध्यपाषाण कालीन संस्कृति के अवशेषों से भी समृद्ध था। इसकी पुष्टि डेकन कॉलेज, पूना के डॉ. पी. एन. मिश्र द्वारा किए गए बागोर के उत्खनन से होती है। सम्भवतः मध्यपाषाण कालीन मानव को अकस्मात् विभिन्न अग्निकार्यों व ताम्रधातु का ज्ञान हुआ होगा और उसने शनैः शनैः ताम्रधातु को अपना बनाया होगा। इस अकस्मात् हुई खोज से उसका जीवन अधिक स्थायित्व की ओर अग्रसर हुआ होगा। ताम्रधातु कैसे सम्पूर्ण प्रागैतिहासिक काल के लिए उपयोगी सिद्ध हुई इसका वर्णन बालाथल उत्खनन के अन्तर्गत वर्णित किया जाएगा कि किस प्रकार से अरावली पर्वत शृंखला ने दक्षिण, दक्षिण-पूर्वी राजस्थान तथा पूर्वी राजस्थान में एक अत्यन्त विशाल पैमाने पर ताम्र संस्कृतियों के विकास में योगदान दिया था।

आहड़ में सम्पादित उत्खनन को दो सांस्कृतिक

कालों में विभाजित किया गया है। प्रथम काल ताम्रपाषाण संस्कृति के नाम से और द्वितीय काल लौह और उत्तर कृष्णमार्जित मृद्‌भाण्ड संस्कृति के नाम से सम्बोधित किया जाता है। यद्यपि इन दोनों कालखण्डों में लगभग 900 वर्ष का अन्तराल है, लेकिन इसकी पुष्टि किसी भी पुरातात्विक अवशेष से नहीं होती है। यह एक ऐसा प्रश्न है, जिसका अभी तक समुचित उत्तर नहीं है।

ताम्रपाषाण काल (प्रथम काल खण्ड)

इस काल खण्ड को मृद्‌भाण्डों की संरचना और आकार-प्रकार के आधार पर तीन अवस्थाओं I अ, I ब तथा I स में विभाजित किया गया है। प्रथम अवस्था से लाल रंग के उत्तल पार्श्व वाले कटोरे प्राप्त हुए हैं तथा इसी अवस्था से मृद्‌भाण्डों के अवशेष मिले हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इनमें से कतिपय स्लिप (लेप) कोटि के मृदभाण्डों के अनुकरण हैं। इसी काल खण्ड की दूसरी अवस्था में पाण्डु और पाण्डु स्लिप मृद्‌भाण्डों का अभाव है, जबकि इस अवस्था में धारी वाले मृद्‌भाण्ड पर्याप्त संख्या में प्राप्त हुए हैं, इसी प्रकार अवस्था स से तीखे कूटक वाले कटोरे प्राप्त हुए हैं, जो काले एवं लाल रंग के हैं। इसी से अत्यन्त चमकीले लाल रंग के मृद्‌भाण्ड भी उपलबध हुए हैं। इस प्रकार से कहा जा सकता है कि काले एवं लाल रंग के मृद्‌भाण्ड आहड़ से प्राप्त प्रमुख अवशेष हैं। इनको अधिकांशतः सफेद रंजक से अलंकृत किया गया है। यह अलंकरण पकाने से पूर्व किया गया है। काले एवं लाल मृद्‌भाण्डों में सर्वाधिक कटोरे तथा इसके पश्चात् प्राप्त होने वाले प्रमुख मृद्‌भाण्डों के प्रकार के अन्तर्गत मृद्‌भाण्ड तथा लोटे की तरह के मृद्‌भाण्ड एवं मर्तबान हैं। ताम्रपाषाण कालीन कुछ ऐसे भी मृद्‌भाण्डों के अवशेष मिले हैं, जिन पर ग्रेफिटो (एक प्रकार के रेखांकन जो मृद्‌भाण्ड को पकाने से पूर्व बना दिए जाते थे) निर्मित हैं। कुछ पुरातत्ववेत्ता इसे लिपि के प्रारम्भ का पूर्वस्वरूप भी स्वीकारते हैं।

ताम्रपाषाण काल से द्वितीय प्रकार के मृद्‌भाण्डों में धातु के समान कठोर राखिए मृद्‌भाण्ड, चमकाए हुए और बिना चमकाए हुए राखिए मृद्‌भाण्ड, लाल टेन (पिंगल) रंग के धातुई कठोरता वाले राखिए मृद्‌भाण्ड तथा लाल स्लिप (लेप) वाले मृद्‌भाण्ड भी प्राप्त हुए हैं। धातुई कठोरता वाले राखिए मृद्‌भाण्डों में सामान्य कटोरे तथा डिश-आन-स्टेंड (ऐसी तश्तरी जो एक सपाट धरातल वाले स्टेंड पर बनी हुई होती है) भी प्राप्त हुए हैं। इनमें रेड–टेन धातुई चमक वाले मृद्‌भाण्ड अत्यन्त छनी हुई परिष्कृत मृदा से निर्मित हैं तथा उनकी हड़प्पा संस्कृति के मृद्‌भाण्डों से समानता स्थापित की गई है।

पाषाणकालीन मकानों की नींव सिस्ट (स्तरित चट्टान) के वृहद खण्डों से निर्मित की गई है तथा इन पाषाण खण्डों को चिपचिपी मिट्टी के गारे से आपस में जोड़ा गया है। ये प्रस्तर खण्ड बाहरी ओर से परिष्कृत (चिकने) बनाए गए हैं तथा इनकी आन्तरिक सतह अनगढ़ है। मकानों की दीवारें चिकनी मिट्टी, गाय के गोबर और क्वार्टज प्रस्तर के टुकड़े लगाकर बनाई गयी हैं तथा फर्श को काली और भूरी मिट्टी को कूट कर समतल बनाया गया है। यद्यपि किसी भी सम्पूर्ण मकान के अवशेष उत्खनन से प्राप्त नहीं हुए हैं तथापि विभिन्न मकानों के खण्डहरों का अध्ययन कर यह अनुमान लगाया जा सकता हे कि आहड़ के ताम्रपाषाणकालीन संस्कृति के निवासियों के मकान काफी वृहदाकार होते थे, जिनकी सम्भावित लम्बाई 9 मीटर तक होती थी तथा यह छोटे-छोटे कमरों में विभक्त होते थे। मकानों की लम्बाई उत्तर-दक्षिण में तथा चौड़ाई पूर्व-पश्चिम में होती थी। मकानों में आयाताकार चूल्हे बनाए जाते थे। इन चूल्हों के पास से सिल बट्टे भी प्राप्त हुए हैं तथा अनाज आदि को संग्रहीत करने वाले धातुमल से निर्मित भाग मिले हैं। इसी के साथ ही अनेक धातुमल के अवशेष भी प्राप्त हुए हैं, जिसके आधार पर यह अनुमान लगाया जाता है कि आहड़ सम्भवतः इस अवस्था में ताम्र-प्रगलन का एक महत्वपूर्ण केन्द्र था। इस अवस्था से प्राप्त अन्य

पुरावशेषों में चिकनी मिट्टी से निर्मित मनके भी हैं जो हस्तनिर्मित हैं तथा इन पर एक निरन्तर रेखांकन प्राप्त होता है, सम्भवतः इनको आकार देने में सूई को प्रयुक्त किया जाता होगा। ये उत्खचित अलंकरण से युक्त भी प्राप्त हुए हैं। ये भारत में प्राप्त मनकों में विशिष्ट प्रकार के हैं और उत्खननकर्ता के अनुसार ऐसे कुछ मनके पश्चिम में प्राप्त होने की सूचना भी है। इसके अलावा अर्धकीमती प्रस्तर, सीपी स्टोन तथा फियास (एक विशिष्ट प्रकार के प्रस्तर) से निर्मित मनके भी प्राप्त हैं। इसके अतिरिक्त स्किन रबर्स (त्वचा साफ करने वाले उपकरण), प्रस्तर गेंद तथा गदा के अवशेष भी उत्खनन के दौरान प्राप्त हुए हैं।

आहड़ की इस ताम्रपाषाण कालीन अवस्था से लम्बे चावल के अवशेष मिले हैं। पशुओं के अन्तर्गत गाय, भैंस, बकरी, भेड़, सूअर तथा श्वान की अस्थियों के भी अवशेष प्राप्त हुए हैं। इनके अतिरिक्त आहड़ से हिरण, चिड़ियाँ, जमीन पर रेंगने वाले प्राणी तथा मछली के अवशेषों की भी प्राप्ति हुई है। इस काल खण्ड की प्राप्त कार्बन 14 तिथियाँ 1940 + / – 95 ई.पू. और 1765 + / – 95 ई. पू. के मध्य की प्राप्त हुई हैं, जबकि I ब की केवल एक कार्बन 14 तिथि ही प्राप्त हुई है, जो 1725+/-110 ई. पू. है और I स की अवधि कार्बन 14 तिथियों के आधार पर 1550 + / – 110 ई. पू. निर्धारित की गई है अर्थात् आहड़ में इस काल की अवधि लगभग 700 से 800 वर्ष तक है।

द्वितीय कालखण्ड (प्रारंभिक ऐतिहासिक अवस्था)

इस काल खण्ड के निवासी एकदम आहड़ संस्कृति के प्रथम कालखण्ड के अवशेषों के ऊपर आकर निवासित हुए थे, जिसकी पुष्टि I स में प्राप्त अनेक गर्तो से होती है, जो इस प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल के निवासियों द्वारा निर्मित की गयी थी। साही (1979) ने I स से लोहा प्राप्त होने सम्बन्धी मत व्यक्त किया है, जबकि उत्खननकर्ता का कथन है कि लोहा केवल द्वितीय अवस्था प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल में ही प्राप्त होता है। साही ने ताम्रपाषाण काल में लोहे के अवशेष का प्राप्त होना स्वीकार किया है, जबकि यह एक अत्यन्त विवादास्पद पक्ष है।

प्रसिद्ध पुरातत्वेत्ता पोर्सल और पी. गुल्लापल्ली ने आहड़ की I ब तथा I स से प्राप्त लोहे के प्रमाणों को 'Questionable Stratigraphic Context' कहा है। अर्थात् इसका स्तरीय सन्दर्भ प्रश्नवाचक है (ऑक्सफोर्ड कॉम्पेनिअन टु इंडियन आर्कियोलॉजी, 2006, पृ. 289)।

प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल को भी पुनः II–अ, II–ब तथा II–स में विभाजित किया गया है। इस विभाजन का आधार मृद्भाण्डों की संरचना आकार–प्रकार एवं अन्य पुरावशेष हैं। इस काल की II–अ अवस्था से रंगमहल के मृद्भाण्डों से समानता रखने वाले मृद्भाण्डों के अवशेषों के अतिरिक्त लाल रंग के मृद्भाण्ड मिले हैं, जिन्हें लाल रंग में डुबाकर बनाया गया है। इसके अलावा इस अवस्था से ऐसे लाल रंग के मृद्भाण्ड भी प्राप्त हुए हैं, जिन पर मृद्भाण्ड के गहरे लाल रंग वाले भाग पर काली पट्टियाँ निर्मित की गयी हैं। इसके अलावा यह अवस्था अपरिष्कृत काले राखिए मृद्भाण्ड तथा अभ्रक का लेप वाले राखिए मृद्भाण्डों के अवशेष भी उपलब्ध कराती है। II–ब में प्रमुख रूप से बिना लाल रंग में डूबे हुए लाल रंग के मृद्भाण्ड प्राप्त होते हैं। इस अवस्था से तीन ऐसे मृद्भाण्डों के अवशेष प्राप्त हुए हैं, जिन पर अभ्रक का लेप किया गया है तथा एक मृद्भाण्ड फीके लाल रंग का है, जिस पर धुंधली लाल पट्टियाँ भी बनायी गयी हैं। पुनः II–स में लाल रंग में डुबा कर बनाए गए लाल मृद्भाण्ड, लाल स्लिप (लेप) तथा अभ्रक लेपित लाल रंग के मृद्भाण्ड भी प्राप्त हुए हैं। इसके अलावा इस अवस्था से धब्बेदार काले और राखिए मृद्भाण्ड मिले हैं। इस कालखण्ड में निर्मित फर्श के अवशेष यह सूचना प्रदान करते हैं कि इस काल के निवासी मकान निर्मित करते थे, जो मिट्टी की दीवारों से निर्मित किए जाते थे तथा उनकी फर्श अत्यन्त उच्च कोटि की होती थी। इस काल खण्ड से रिंगवेल्स, दो संग्रह किए जाने

वाले वृहदाकार मर्तबान भी प्राप्त हुए हैं। यहाँ राख, कोयला और पशुओं की अस्थियाँ प्राप्त होना यह संकेत प्रदान करता है कि मृद्पात्रशवागार रहा होगा। रिंगवेल प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल की एक प्रमुख रचना है, जो सामान्यतः मकान के बाहर बनाए जाते थे, जिसमें मिट्टी से निर्मित छल्ले होते थे जिनको क्रमशः एक–के–ऊपर–एक के क्रम में रख कर बनाकर लगाया जाता था। अधिकांश पुरातत्ववेत्ता इनको कचरा एकत्र करने हेतु बनाया जाना स्वीकारते हैं।

इस अवस्था से 6 सिक्के भी प्राप्त हुए हैं, जिनमें से एक अपोलोडोट्स यूनानी राजा का है, जिसने 200 ई.पू. के आसपास राज्य किया था। इसके अलावा इसी अवस्था से तीन मुद्राओं के अंकन भी प्राप्त हुए हैं, जिन पर आख्यान उत्कीर्ण हैं। आख्यान की लिपि ब्राह्मी है, जिस आधार पर पुरालिपिवेत्ता इनकी तिथि ईसा की प्रारम्भ की शताब्दी निश्चित करते हैं। आहड़ की द्वितीय अवस्था से प्राप्त अन्य पुरावशेष में ताम्र अंगूठियाँ, चूड़ियाँ तथा सूरमा लगाने की नलिका तथा 79 लौह उपकरण भी प्राप्त हुए हैं। द्वितीय अवस्था के अन्तर्गत प्राप्त पुरावशेषों जिनमें उत्तर कृष्णमार्जित मृद्भाण्ड, अपोलोडोट्स का सिक्का तथा मुद्रांक एवं अपरिमार्जित प्रकार के मृद्भाण्डों के आधार पर यह मत व्यक्त किया जा सकता है कि आहड़ में तीसरी शताब्दी ई.पू. से लेकर 10 वीं से 11 वीं शताब्दी तक आवासित रहा था। इसकी पुष्टि अभिलेखीय साक्ष्यों से भी होती है।

आहड़ संस्कृति के किसी अन्य स्थल का विवरण देने से पूर्व यह समझना आवश्यक हो जाता है कि वे कौन से कारण थे जिनके कारण मेवाड़ में ही संस्कृति की उत्पत्ति एवं विकास हुआ। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता चक्रवर्ती (द ऑक्सफोर्ड काम्पेनिअन टू इंडियन आर्कियोलोजी, 2006, पृ. 228) का मत है कि दक्षिण पूर्वी राजस्थान का मैदानी भाग मूलतः जो मेवाड़ नाम से जाता है, बनास और उसकी सहायक नदियों से सिंचित है। यह नदी अन्ततः मालवा में चम्बल में समाहित होती है, जिसके मेवाड़ से परम्परागत सम्बन्ध है, फिर अत्यंत प्राकृतिक रूप से मेवाड़ उत्तरी और मध्य गुजरात से भी जुड़ा है अगर कोई व्यक्ति दिल्ली से अरावली के पूर्वी किनारे से यात्रा प्रारम्भ करे तो उत्तर-पूर्वी राजस्थान में छितराई हुई पर्वत शृंखला से होता हुआ अजमेर और फिर सीधे मेवाड़ के मैदानी भूभाग में पहुँच जाएगा। इसको चक्रवर्ती कुछ इस तरह समझाते हैं कि उत्तर-पूर्वी राजस्थान में विकसित हुई उच्चस्तरीय ताम्र संस्कृति का केन्द्र जोधपुरा–गणेश्वर है जो द्वितीय केंद्र मेवाड़ के आहड़ की ताम्र संस्कृति तक विस्तारित है, जिसका मध्य बिन्दु अजमेर अथवा जयपुर है। आहड़ संस्कृति के प्रमाण अन्ततः ऊपरी गोदावरी के माल क्षेत्र तक प्राप्त होने से यह कहा जा सकता है कि तीसरी सहस्त्राब्दी ई. पू. से राजस्थान में प्राचीन संस्कृतियों के विकास में अरावली की अत्यंत महत्ती भूमिका रही क्योंकि जोधपुरा–गणेश्वर तथा आहड़ की प्राक् एवं प्रौढ़ संस्कृति के निवासियों को ताम्रधातु अरावली से ही उपलब्ध होती थी तथा इसी से पूर्वी राजस्थान में ताम्रधातु का दोहन प्रारम्भ होने से कृषि आधारित ग्रामीण संस्कृतियों का विकास हुआ और यह भूभाग अन्य शेष भौगोलिक क्षेत्रों से आगे बढ़ गया।

आहड़ के उत्खनन से यह तो प्रमाणित होता है कि यह एक उच्च्य कोटि की ताम्र संस्कृति थी, जिसका मालवा और सम्भवतः गुजरात की हड़प्पा संस्कृति के निवासियों से सम्पर्क था। दिलीप चक्रवर्ती के अनुसार (2006, पूर्व. 228) आहड़ की प्रथम ब तथा प्रथम स अवस्था से चार निक्षारित (etched) कार्नेलियन के मनकों का प्राप्त होना इसका पुख्ता प्रमाण है कि आहड़ और बालाथल के मध्य सम्बन्ध था।

आहड़ की अपेक्षा बालाथल के उत्खनन से आहड़ संस्कृति के विभिन्न पक्षों पर व्यापक प्रकाश पड़ता है। प्रथमतः बालाथल, आहड़ संस्कृति के उत्खनित स्थलों में एक मात्र ऐसा स्थल है, जहाँ पर सात वर्ष

(1994–2000) तक निरन्तर क्षितिजाकार उत्खनन हुआ था, जिससे आहड़ संस्कृति के निवासियों की जीवन पद्धति की अधिकाधिक जानकारी प्राप्त हुई है, बालाथल पाँच एकड़ में फैला पुरास्थल है। यद्यति उत्खनन के समय इसका यथेष्ट भाग स्थानीय निवासियों द्वारा कृषि किए जाने के कारण नष्ट हो गया। अतः उत्खनन केवल केन्द्रीय मगरी और उसकी ढ़लान में ही सम्पादित किया गया।

बालाथल उदयपुर के उत्तर-पूर्व में 40 कि.मी. की दूरी पर अवस्थित है और उदयपुर जिले की वल्लभनगर तहसील के उत्तर-पश्चिम में 6 कि.मी. की दूरी पर है। इस पुरास्थल पर जिस समय कार्य प्रारम्भ किया गया था तो इसका केवल 5 कि.मी. भूभाग सुरक्षित था, शेष भूभाग स्थानीय कृषकों द्वारा नष्ट किया जा चुका था। प्रो. वी. एन. मिश्रा के साथ प्रो. शिन्दे, डॉ. आर. के. मोहन्ती (डेकन कॉलेज), ललित पाण्डे और डॉ. जीवन खरकवाल (राजस्थान विद्यापीठ) द्वारा 1994 से 2000 तक निरन्तर सात वर्षों तक क्षितिजाकार उत्खनन किया गया। उत्खनन से ताम्रपाषाण कालीन तथा प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल के यथेष्ट प्रमाण प्राप्त हुए तथा उत्खनन से यह भी ज्ञात हुआ कि इन सांस्कृतिक अवस्थाओं के मध्य लम्बा अन्तराल था, जिसकी पुष्टि इन दोनों अवस्थाओं के स्तरों के जमाव से होती है। बालाथल से एक अत्यंत विशिष्ट किलेनुमा संरचना प्राप्त हुई, जो ताम्रपाषाण कालीन है, जिसके मध्य भाग में गाय का जला हुआ (अत्यंत उच्च ताप पर) गोबर तथा राख प्राप्त हुई है। यह विशाल कलेनुमा संरचना क्यों बनाई यह कह सकना अत्यंत कठिन है। लेखक के विचार में संभवतः यह किसी सामुदायिक धार्मिक कृत्य को सम्पन्न करने हेतु निर्मित की गयी थी। प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल के प्राप्त प्रमुख अवशेषों में लौह उपकरण हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल में बालाथल प्रमुख रूप से लौह प्रगलन का मुख्य केंद्र था और सम्भवतः समीपवर्ती भूभाग के दूसरे निवासियों का लौह उपकरणों के लिए मुख्य स्रोत भी रहा था (आई ए आर 1993–94 ; 193–97; 1995–96 : 64–70; 197–98 ; 1997–98 : 144–153; 1998–99 ; 142–149)।

बालाथल से प्राप्त पुरासामग्री को वी. एन. मिश्रा ने सार्वजनिक वास्तु, किलेनुमा संरचना, परकोटे की दीवार, गृहवास्तु, भट्टियाँ, आभूषण, मृद्‌भाण्ड, शवागार तथा प्राप्त रेडियोकार्बन तिथियों में विभाजित किया है। इसी प्रकार से वी. एन. मिश्र ने प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल को भवन संरचना तकनीक एवं अर्थव्यवस्था, मृद्‌भाण्ड, भौतिक सांस्कृतिक अवशेष, मृतक संस्कार तथा कालानुक्रमण से ताम्रपाषाण कालीन वास्तु को दो भागों–किलेनुमा संरचना तथा बसावट के चारों ओर के परकोटे की दीवारों को सार्वजनिक वास्तु के अन्तर्गत सम्मिलित किया है।

किलेनुमा संरचना

बालाथल के उत्खनन से प्राप्त विशाल किलेनुमा संरचना एक कौतुहल है क्योंकि सामान्यतः यह माना जाता है कि सम्पूर्ण भारत की ताम्रपाषाण संस्कृतियाँ ग्रामीण थी और इनके निवासी गोबर, मिट्टी तथा लकड़ी व बांस खपच्चियों की सहायता से झोपड़ियाँ निर्मित करते थे। ऐसे में प्रस्तर निर्मित संरचना का प्राप्त होना किसी कौतुहल से कम नहीं था। सम्भवतः इसका कारण स्थानीय स्तर पर प्रस्तर का सुगमता से सुलभ होना तथा आहड़ संस्कृति के ताम्रपाषाणकालीन निवासियों के सम्पर्क से प्रस्तर भवन निर्माण की तकनीक का ज्ञान होना था।

इस किलेनुमा संरचना को आन्तरिक किलेबन्दी की संज्ञा से अभिहित करते हुए दिलीप चक्रवर्ती ने लिखा है कि यह संरचना अत्यंत विशिष्ट तो है लेकिन यह ताम्रपाषाण कालीन संस्कृति का एक अनसुलझा लक्षण भी है। उत्खननकर्ताओं के अनुसार यह किलानुमा संरचना उत्तर–दक्षिण ढलान पर निर्मित है तथा इसका आकार अधिआयताकार है, इसकी वृहद् दीवार 37 मीटर लंबी है, जो पूर्व–पश्चिम दिशा में निर्मित है।

दीवारों की ऊँचाई 3.5 से 4 मीटर के मध्य है तथा इनकी मोटाई आधार पर 7 मीटर और शीर्ष पर 5 मीटर है। किलेनुमा संरचना के चारों कोनों पर आयताकार अथवा वर्गाकार बुर्ज भी निर्मित हैं। इसका कुल क्षेत्रफल 600 वर्ग मीटर है। इस किलेनुमा संरचना के बुर्ज दक्षिण–पश्चिम दक्षिण–पूर्व तथा उत्तर–पूर्व में निर्मित किए गए हैं, जिनमें से दक्षिण–पश्चिम के बुर्ज की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता है इसके पूर्वी और दक्षिणी मुख का संगम पूर्णतः 90° कोण पर होना, जो ताम्रपाषाण कालीन कारीगरों की निपुणता को प्रकट करता है। आन्तरिक भाग में उपस्थित जले हुए गोबर में 6 स्तर हैं, जो राख के जमाव की भौतिक स्थिति और रंग के आधार पर वर्गीकृत किए गए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि गोबर के उपले लम्बवत तथा तिरछे जमाए गए थे तथा उनको अग्नि से प्रज्वलित किया गया था। जले हुए गोबर और राख के रंग से जलने की विभिन्न अवस्थाओं का सूक्ष्म अध्ययन किए जाने से यह स्पष्ट होता है कि गोबर का जलना अकस्मात हुई घटना नहीं थी अपितु ऐसा अनेक अवसरों पर उच्च्य तापमान पर किया गया था। सम्भवतः यह अग्नि प्रज्ज्वलन किसी धार्मिक कृत्य के अन्तर्गत ही किया गया होगा क्योंकि अभी तक बालाथल के अतिरिक्त अन्य पुरास्थलों से इस प्रकार के प्रमाण प्राप्त नहीं हुए हैं। इस संरचना का दूसरा रहस्य यह भी है कि निरन्तर सात वर्षों के प्रयास द्वारा भी इस संरचना का प्रवेश द्वार नहीं खोजा जा सका है।

परकोटे की दीवार

बालाथल पुरास्थल के पूर्वी किनारे पर एक बाह्य परकोटे की दीवार के अवशेषों का प्राप्त होना इस पुरास्थल को विशिष्ट बना देता है। इस दीवार का जो भाग उत्खनन द्वारा अनावृत किया गया है वह उत्तर-पश्चिम की ओर निर्मित है जिसकी लम्बाई नौ मीटर है। दीवार चपटे प्रस्तर खण्डों से निर्मित है, जिसको मिट्टी व गोबर से जोड़ा गया है। यह दीवार मिट्टी और मिट्टी निर्मित मोरचे पर निर्मित की गयी है। उत्खनन से ऐसा प्रतीत होता है कि इसका निर्माण दो अवस्थाओं में हुआ है। इसका नीचे का भाग या आधार चौड़ा है वह ऊपर की ओर संकरा होता गया है। यह प्रारम्भिक अवस्था की संरचना है। यह 1.15 मीटर ऊँचाई लिए है तथा इसमें प्रस्तर खण्डों की नौ पंक्तियाँ हैं, जबकि द्वितीय अवस्था की दीवार पूर्णतः लम्बवत् है तथा उसकी ऊँचा 85 से.मी. है। यह प्रथम अवस्था की दीवार से 35 से.मी. दूरी पर पूर्वी किनारे पर निर्मित है। दो खातों में दो समानान्तर दीवारें प्राप्त हुई हैं, जिससे यह प्रतीत होता है कि यह परकोटे की दीवार का उत्तर ओर घुमाव है। इसी तरह से एक अन्य खात में उत्तर की दिशा में 4 मीटर चौड़ी दीवार का प्राप्त होना परकोटे की दीवार के उत्तरी भाग की सम्भावना को पुष्ट करता है। इस प्रकार से बालाथल से परकोटे का प्राप्त होना यह सिद्ध करता है कि सम्भवतः बालाथल में निवास करने वाले आहड़ संस्कृति के निवासियों ने इसको गुजरात के हड़प्पा संस्कृति के निवासियों के सम्पर्क में आने से विकसित किया अथवा परिस्थितिजन्य आवश्यकताओं के मद्दे नजर बसासत की सुरक्षा के लिए विकसित कर लिया हो और सुगमता से सुलभ प्रस्तर ने इस कार्य को और अधिक सुगम बना दिया होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि परकोटे निर्माण आहड़ संस्कृति का एक महत्वपूर्ण अंग था क्योंकि ऐसे प्रमाण भी प्राप्त हुए हैं। इसके अलावा सर्वेक्षणों के दौरान भी अनेक पुरावशेषों के प्रकाश परकोटे की दीवार के चिह्न स्पष्ट होते हैं। ऐसे पुरास्थलों में ताड़ावत स्थल महत्वपूर्ण है।

निवास योग्य संरचनाएँ

बालाथल से निवास योग्य संरचनाओं की आठ अवस्थाएँ उत्खनन से प्रकाश में आई हैं, जिनको पी. एन. मिश्रा ने वास्तु निर्माण के आधार पर I से V, VI, VII तथा VIII में विभक्त किया है। इसमें से संरचना अवस्था VI सर्वाधिक प्रौढ़ प्रकार की है, जो आहड़ संस्कृति की समृद्धि की सूचक है। इस अवस्था से तीन आवासीय वृहद् संरचनाएँ प्राप्त हुई है। ये सभी मगरी अथवा पुरास्थल के दक्षिण भाग में हैं, जिनमें से

संरचना प्रथम तथा द्वितीय के मध्य एक सड़क जैसा निर्माण है, जिसकी लम्बाई 27 मीटर तथा चौड़ाई उत्तरी अन्तिम किनारे पर 2.70 मीटर, केन्द्र में 2 मीटर तथा दक्षिणी किनारे पर 4.80 मीटर है। इसी प्रकार से आवासीय संरचना दो और तीन भी 1.2 मीटर चौड़ी पूर्व-पश्चिम की ओर निर्मित गली से पृथक हो रही हैं। इन तीनों आवासीय निर्माणों की निर्माण सामग्री में भी स्पष्ट अन्तर है, जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि आहड़ संस्कृति की प्रौढ़ अवस्था में समाज में किसी न किसी प्रकार का सामाजिक स्तरीकरण हो गया था। इसके अतिरिक्त इतने अधिक वृहद् निर्माण कार्यों के लिए किसी न किसी तरह का राजनीतिक अथवा प्रशासनिक ढ़ाँचा भी विकसित रहा होगा, जिसके नेतृत्व में यह निर्माण सम्भव हुए होंगे। सम्भवतः आहड़ कालीन समाज मुखिया प्रधान होता था, जिसके नेतृत्व में सभी कार्य सम्पन्न होते थे।

बालाथल के उत्खनन से दो भट्टियों के अवशेष भी मिले हैं, जो इसकी पुष्टि करते हैं कि मृद्भाण्डों का निर्माण आवासीय बस्तियों में ही सम्पादित होता था। बालाथल के उत्खनन से ऐसी दो भट्टियों के प्रमाण प्राप्त हुए हैं, जिनमें से आयताकार भट्टी एक कमरे में प्राप्त हुई है, जिसके तीन ओर मिट्टी की दीवारें हैं तथा चौथी ओर प्रस्तर निर्मित दीवार है। इसकी पूर्व-पश्चिम में लंबाई... मीटर, उत्तर–दक्षिण में चौड़ाई 4.80 मीटर तथा ऊँचाई 70 से.मी. है। द्वितीय भट्टी, प्रथम भट्टी के उत्तर में है। इसकी लम्बाई पूर्व–पश्चिम में 4.5, उत्तर–दक्षिण में चौड़ाई 1.40 मीटर है इसका आधा भाग मिट्टी में दबा है जो उत्खनित नहीं किया गया है। अतः इसकी पूर्ण चौड़ाई ज्ञात नहीं हो सकी।

इन भट्टियों का आवासीय बस्ती में प्राप्त होना यह भी सिद्ध करता है कि कुम्भकार बस्ती में ही निवास करता था। इस तरह से ये भट्टियाँ आहड़ की सामाजिक संरचना की ओर संकेत करती हैं, बालाथल के अतिरिक्त समस्त उपमहाद्वीप में बहुत ही कम ऐसे पुरास्थल हैं, जहाँ से ऐसी भट्टियों के प्रमाण प्राप्त हुए हैं (वी. एन. मिश्रा, राजस्थान : प्री हिस्टोरिक एण्ड अर्ली हिस्टोरिक फाउन्डेशन्स, 2007, पृ. 190)।

मृद्भाण्ड

ताम्रपाषाणकाल में मृद्भाण्ड निर्माण एक उच्च कोटि की शिल्पकला थी। मृद्भाण्डों को विभिन्न प्रकार के चाकों पर और कभी-कभी हाथ से बनाया जाता था। यदि यह कहा जाए कि ताम्रपाषाणकालीन मृद्भाण्ड संस्कृति का एक ऐसा ताना–बाना है, जिसकी सहायता से तत्कालीन समाज की विभिन्न विशेषताओं को समझा जा सकता है तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। मृद्भाण्डों को मिट्टी की विशुद्धता, मृद्भाण्डों की सतह का उपचार, पकाने की प्रकृति, मृद्भाण्डों के आकार-प्रकार और अलंकरण के आधार पर मुख्य रूप से परिष्कृत और अपरिष्कृत दो प्रकारों में विभाजित किया जाता है। इनके अध्ययन से मृद्भाण्ड निर्माण की तकनीक के अतिरिक्त तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक पक्षों को भी समझा जा सकता है।

(1) काले–एवं–लाल मृदभाण्ड

इन मृद्भाण्डों को आहड़ संस्कृति का प्रतिनिधि कहा जा सकता है अभी तक सभी उत्खनित एवं सर्वेक्षण किए गए स्थलों से ये प्राप्त हुए हैं। इनका आन्तरिक एवं गर्दन का बाह्य भाग काला होता है तथा शेष बाह्य भाग चाकलेटी, आलूबुखारे जैसा लाल रंग का होता है। इन मृद्भाण्डों का यह रंग का इनको उल्टा करके पकाए जाने से प्राप्त होता है। इस विधि को इनवर्टेड टेक्नीक कहते हैं। ये मृद्भाण्ड अत्यन्त पतले से लेकर मध्य आकार के भी हो सकते हैं। इन मृद्भाण्डों के टुकड़ों के किनारों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि ये गहरे भूरे से लेकर काले रंग तक के भी हो सकते हैं। मृद्भाण्डों की दोनों सतह लेपित (Slipped) होती हैं तथा इनको चमकाया गया है, इसके पश्चात् मृद्भाण्डों की बाह्य अथवा आन्तरिक सतह पर सफेद रंजक से अलंकरण बनाए गए हैं।

अलंकरणों में सीधी अथवा लहरदार रेखाएँ, सर्पिलाकार हीरे के आकार की संरचनाएँ समकेन्द्रित वृत तथा फीते जैसे आकार निर्मित हैं। चौड़े मुख व पार्श्व वाले विभिन्न आकार के कटोरे, तश्तरियाँ, स्टेण्ड पर निर्मित तश्तरियाँ, कटोरे, गोलाकार लोटे आदि जैसे मृद्भाण्ड प्राप्त हुए हैं। अधिकांश विद्वान सफेद रंजक से चित्रित इन काले–एवं-लाल रंग के मृद्भाण्डों को आहड़ की प्रतिनिधि परम्परा के मृद्भाण्ड मानते हैं तथा उनका यह भी मत है कि ये अलंकरण ही आहड़ संस्कृति को अन्य ताम्रपाषाण कालीन संस्कृतियों से पृथक करते हैं। बालाथल में ये मृद्भाण्ड प्रारम्भिक स्तर से ही प्राप्त होने प्रारम्भ हो गए थे।

(2) पतले लाल लेप (स्लिप) युक्त मृद्भाण्ड

यह एक प्रकार के विशिष्ट मृद्भाण्ड हैं। इनकी मृदा अत्यन्त छनी हुई एवं किसी भी प्रकार की अशुद्धि से मुक्त है तथा इसको पर्याप्त रूप से घोटा गया है। इनको पर्याप्त तापमान पर पकाया गया है, जिस कारण से इन मृद्भाण्डों के टुकड़ों का क्रोड़ लालिमा लिए है एवं ये बर्तन अन्य से टकराए जाने पर धातु जैसी ध्वनी उत्पन्न करते हैं। इन मृद्भाण्डों की बाह्य सतह पर अत्यंत पतला लाल लेप किया गया है तथा उसको खूब चमकाया गया है, जिससे इनकी आभा देखते ही बनती है। लेप का रंग सामान्यतः आलू बुखारे के समान लाल तथा कभी-कभी यह भूरी आभा युक्त लाल भी हो गया है। मृद्भाण्डों की आन्तरिक सतह पर किसी भी प्रकार का लेप अथवा प्रक्षालन नहीं है। लेकिन आन्तरिक सतह अत्यंत बारीकी से घिसी हुई है। इस प्रकार के मृद्भाण्डों में उत्तलपार्श्व वाले गहरे कटोरे प्राप्त हुए हैं, जिनका मुख संकरा है। इसके अतिरिक्त इस परम्परा में गोलाकार एवं बाहर की ओर निकले हुए किनारे वाले मृद्भाण्ड भी प्राप्त होते हैं।

यह बालाथल की प्रतिनिधि मृद्भाण्ड परम्परा के मृद्भाण्ड हैं। बालाथल से यह मृद्भाण्ड प्रारम्भिक अवस्था–ए अर्थात् प्रारम्भ से प्राप्त हो जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि या तो हाथ से अथवा अत्यंत धीमी गतिवाले चाक पर इनको निर्मित किया गया है। बालाथल की द्वितीय–बी अवस्था में इनकी संख्या में यकायक वृद्धि हो जाती है। इन मृदभाण्डों की उच्चतम अवस्था केवल प्रौढ ताम्रपाषाणकाल में प्राप्त होती है।

टेन (पिंगल) रंग के मृद्भाण्ड

इस परम्परा के मृद्भाण्ड अत्यन्त परिष्कृत घोटी गई मृदा से निर्मित किए गए हैं। इनको उच्च तापमान पर पकाया गया है तथा यह अत्यन्त कठोर एवं सुदृढ़ हैं। इन मृद्भाण्डों की मोटाई मध्यम है तथा इन पर नारंगी रंग का लेप किया गया है लेकिन कभी कभी यह गहरा लाल, गहरा भूरा अथवा चौकलेट जैसा भी हो गया है। इस परम्परा की तश्तरियों, कुण्डियों तथा कटोरों की दोनों सतहों पर लेप किया गया है, जबकि इस परम्परा के गोलाकार मृद्भाण्डों कब्धी केवल बाह्य सतह पर लेप किया गया है। इस परम्परा के प्रमुख प्रकारों में केरीनेटेड डिश, डिश ऑन स्टेण्ड प्राप्त हुए हैं। वी. एन. मिश्रा के मतानुसार टेन वेअर अपनी संरचना, कठोरता अथवा सुदृढ़ता, रंग एवं आकार–प्रकार के कारण आहड़ संस्कृति की समस्त मृद्भाण्ड परम्परा से भिन्न हैं, अपितु इसके विपरीत यह मृद्भाण्ड परम्परा गुजरात की हड़प्पा संस्कृति के मृद्भाण्डों से समानता रखती है। इन दोनों में प्रमुख भिन्नता यह है कि गुजरात की हड़प्पा संस्कृति के मृद्भाण्ड सामान्यतः लगभग सौ प्रतिशत चित्रित हैं, जबकि आहड़ में इसका अभाव है।

पाण्डुरंग के मृद्भाण्ड

यह बालाथल से अत्यन्त न्यून संख्या में प्राप्त हुए हैं इस परम्परा के मृद्भाण्ड पर्याप्त रूप से घोटी हुई परिष्कृत मृदा से निर्मित हैं तथा इनको उच्चताप पर पकाए जाने के कारण इनकी मृद्भाण्डों की क्रोड गेरूए रंग की अथवा क्रीमी हो गई है। इन मृद्भाण्डों की बाह्य सतह पर क्रीमी रंग का लेप है, जिसको चमकाया गया है। इस मृद्भाण्ड परम्परा के मृद्भाण्डों पर ज्यामितीय अलंकरण क्षितिजाकार और तिरछे हैं, बहुसंख्यक पट्टियाँ, लहरदार रेखाएं, बिन्दु बने हैं। इस

परम्परा के मृद्भाण्डों का अल्प संख्या में प्राप्त होना इस बात द्योतक है कि यह मृद्भाण्ड स्थानीय नहीं होकर बाहर से आए हैं।

(5) रिजवर्ड स्लिप वेअर

वी. एन. मिश्रा के अनुसार यह कोई मृद्भाण्ड परम्परा न हो करके मृद्भाण्ड को अलंकृत करने की तकनीक है। इस तकनीक के अन्तर्गत मृद्भाण्ड की बाह्य अथवा आन्तरिक सतह पर प्रथमतः एक पतला लेप आरोपित किया जाता है जो सामान्यतः हल्के लाल रंग का होता है, जब यह सूख जाता है तो इस पर द्वितीय लेप आरोपित किया जाता है, जो प्रथम वाले से अलग होता हुआ चमकीला लाल, काला अथवा पाण्डु होता है। अब द्वितीय लेप के सूखने से पूर्व ही किसी कंघी जैसे उपकरण से द्वितीय गीले लेप पर अलंकरण निर्मित कर दिए जाते हैं। यह अलंकरण सामान्यतः ज्यामितीय होते हैं। इस प्रकार से निर्मित मृद्भाण्डों को रिजवर्ड स्लिप वेअर कहा जाता है।

बालाथल से इस परम्परा के सौ से अधिक मृद्भाण्डों के आंशिक भाग प्राप्त हुए हैं, जो दक्षिण एशिया के किसी भी अन्य पुरास्थल से अधिक हैं (वी. एन. मिश्रा, 2007, पृ. 182)। बालाथल के उत्खनन में इस परम्परा के मृद्भाण्ड निम्नतम स्तर से प्राप्त हुए हैं जो इस तथ्य का द्योतक है कि बालाथल में यह बालाथल निवासियों के गुजरात हड़प्पा संस्कृति के निवासियों के सम्पर्क में आने से पूर्व ही निर्मित होने प्रारम्भ हो गए थे। इसकी पुष्टि एक्स आर डी विश्लेषण से भी होती है कि इनको स्थानीय स्तर पर ही निर्मित किया गया है।

(6) अपरिष्कृत प्रकार के मृद्भाण्ड

इस प्रकार के मृद्भाण्ड अपरिष्कृत मृदा से निर्मित हैं। इनको उचित नहीं पकाया गया है, जिस कारण इनका क्रोड राखिया अथवा काले रंग का है। इन पर सामान्यतः उत्खनित और आरोपित अलंकरण किया गया है। इन मृद्भाण्डों के मुख्य प्रकार गोलाकार मृद्भाण्ड हैं जो विभिन्न आकार के हैं जो अनाज संग्रह एवं भोजन निर्मित करने के निमित्त प्रयुक्त किए जाते थे। इन मृद्भाण्डों को प्रमुख रूप से मोटे चमकीले लाल लेप युक्त मृद्भाण्ड सादे मृद्भाण्ड, चमकाए गए राखिए रंग के मृद्भाण्ड और सामान्य राखिए मृद्भाण्डों में विभाजित किया गया है।

(7) मोटे चमकीले लाल लेप वाले मृद्भाण्ड

इसके अन्तर्गत चौड़े एवं संकरे मुख वाली हांडियाँ मुख्य रूप से प्राप्त हुई हैं। इन हांडियों का ऊपर का गर्दन तक का बाह्य भाग मोटे लाल लेप से युक्त है जिसको उत्तल अवस्था तक चमकाया गया है। मृद्भाण्ड के शेष निचले भाग पर रेत और चिकनी मिट्टी का लेप किया गया है। मृद्भाण्ड के लेपयुक्त भाग और रेत तथा चिकनी मिट्टी के लेप के मध्य भाग पर उत्खनित एवं आरोपित अलंकरण किया गया है।

(8) सादे लाल मृद्भाण्ड

इस परम्परा के अन्तर्गत निर्मित मृद्भाण्ड एकदम सादे हैं और कभी कभी इनकी बाह्य सतह पर लाल रंग का प्रक्षालन किया गया है। इस परम्परा के अन्तर्गत प्रमुख रूप से संकरे मुख वाली हांडियाँ प्राप्त होती हैं। किन्हीं मृद्भाण्डों पर अत्यन्त न्यून संख्या में उत्खचित अलंकरण भी किए गए हैं।

(9) चमकीले राखिए मृद्भाण्ड

इस परम्परा के अन्तर्गत मध्यम आकार वाले लघु मुख से युक्त गोलाकार हांडियाँ अथवा मर्तबान और कभी कभी सामान्य तश्तरियाँ और स्टैण्ड पर निर्मित तश्तरियाँ प्राप्त हुई हैं। इन मृद्भाण्डों का ऊपरी भाग लेप युक्त है तथा चमकाया गया है जबकि निम्न भाग रेत और चिकनी मिट्टी के लेप से आरोपित है। इस परम्परा का प्रत्येक मृद्भाण्ड अलंकृत है।

(10) सादे राखिए मृद्भाण्ड

इस परम्परा के मृद्भाण्ड भी चमकीले राखिए मृद्भाण्डों के समान ही हैं। इन पर लेप, चमक और अलंकरण का अभाव है। लेकिन इन मृद्भाण्डों की बाह्य सतह रेत और चिकनी मिट्टी से आरोपित है। इन मृद्भाण्डों पर कालिख के चिह्न पाए गए हैं जिससे

इसकी पुष्टि होती है कि इन्हें भोजन बनाने के लिए निमित्त प्रयुक्त किया जाता था। इस परम्परा में हाथ से बनी उथली थालियों जैसी संरचनाएँ निर्मित हैं जो सम्भावित रूप से तवा हैं।

शवों का अन्तिम संस्कार

शवों की अन्तिम व्यवस्था अथवा संस्कार से संबंधित आहड़ के किसी भी उत्खनित पुरास्थल से कोई प्रमाण अभी तक अप्राप्य हैं। यद्यपि बालाथल से बसासत के स्थल से अत्यंत असाधारण सन्दर्भ में पाँच कंकाल प्राप्त हुए हैं, जिनमें से चार ताम्रपाषाण कालीन हैं और एक प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल से सम्बद्ध है। बालाथल से प्राप्त प्रथम कंकाल किलेनुमा संरचना में जले हुए गाय के गोबर के मध्य से 2.70 मीटर की गहराई झुकी हुई अवस्था में जिसमें सिर दक्षिण की ओर है, प्राप्त हुआ है। यह एक नर कंकाल है जिसकी आयु 50 वर्ष से अधिक है। वैज्ञानिक अध्ययनों से यह प्रमाणित होता है कि हड्डियों के जोड़ों के घिसाव के रोग से पीड़ित था। इसके अलावा इसको दन्त क्षय का रोग भी था। यद्यपि यह शव अपेक्षाकृत रूप से पूर्ण था। इसके पश्चात् भी इस मृतक के पास से 1 से.मी. से भी कम आकार की दो सौ अस्थियाँ उत्खनन के दौरान एकत्र की गई थीं। सुश्री ग्वेन रोबिन्स, जो ऑरेगॉन यूनिवर्सिटी, यू. एस. ए. के मानव विज्ञान विभाग में कार्यरत हैं ने इन अस्थियों के सूक्ष्म अध्ययन के पश्चात् यहाँ दूसरे कंकाल के होने की पुष्टि की है। इस कंकाल का बाँया जबड़ा तथा सिर के अवशेष ही शेष रह गये थे। यह एक ऐतिहासिक स्तर से प्राप्त हुआ है। शव संख्या तीन राख के ढेर के ऊपर मिला है। इस शव के खोपड़ी, जबड़े तथा वक्ष भाग की अस्थियाँ अत्यन्त सुरक्षित अवस्था में प्राप्त हुई हैं। यह द्वितीयक शवागार है, शवागार के समीप एक लाल मृद्भाण्ड मिला है। सम्भवतः उसमें मृतक की आत्मा के लिए भोजन आदि रखा गया होगा। इसी प्रकार से शव संख्या 4 ऐतिहासिक कालीन है। शव संख्या 5 एक प्रौढ का है जो पूर्व–पश्चिम दिशा में लेटा है। आमाशय के ऊपर दो कालेलिअन के मनके रखे गए हैं। दायें हाथ के पास एक धातु निर्मित पिन रखा है। खोपड़ी मोटी और रन्ध्रित है। यह एक 35 वर्षीय कंकाल है (वी. एन. मिश्रा, 2007, पृ. 195)।

बालाथल से प्राप्त सांसारिक संस्कृति के अवशेष

यह अत्यन्त आश्चर्य का विषय है कि आहड़ संस्कृति के इस स्थल से अत्यंत उच्चकोटि के मृद्भाण्ड प्रकाश में आए हैं, जो इनके उच्च तकनीकी कौशल और सुन्दरता के प्रति झुकाव को परिलक्षित करते हैं। इनके द्वारा निर्मित मृद्भाण्डों के अवशेष आज भी अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। उस समय कैसे रहे होंगे, यह कल्पनातीत है। इसके विपरीत इस स्थल के निवासियों में दैनिक जीवन में प्रयुक्त वस्तुओं के प्रति लगाव कम था, इसकी पुष्टि सात वर्षीय उत्खनन के दौरान प्राप्त पुरानिधियों से होती है।

इन्होंने मृद्भाण्डों के अतिरिक्त ताम्र उपकरण, अर्धकीमती प्रस्तर के आभूषण, मृण के मनके तथा वृषभ आदि मुख्य रूप से बनाए हैं। बालाथल से प्राप्त ताम्र उपकरण और आभूषणों की संख्या नगण्य है जिसमें चूड़ियाँ, सीधे पार्श्व वाले चाकू, उस्तरा एवं 6 पंखुड़ियों से युक्त फूल जैसा आभूषण तथा एक काँटेदार बाणाग्र भी प्राप्त हुआ है। इसके अतिरिक्त बालाथल के ताम्रपाषाण कालीन निवासियों द्वारा निर्मित टेराकोटा की चूड़ियाँ व टेराकोटा के मनके भी प्राप्त हुए हैं, जबकि इसके विपरीत आहड़ से इस प्रकार की सामग्री प्रचुर संख्या में प्राप्त हुए हैं। उत्खनन के दौरान सिलबट्टे तथा मूसली भी प्राप्त हुई है। मृद्भाण्डों के अतिरिक्त बालाथल निवासियों का कौशल उत्खनन से प्राप्त अन्य उपकरणों में भी परिलक्षित होता है।

बालाथल से प्राप्त कार्बन तिथियाँ

बालाथल से 31 रेडियो कार्बन तिथियाँ हमको ज्ञात हैं, जिनमें से 26, 3000 ई. पू. से 1800 ई. पू. (असंशोधित) अथवा 3700 ई. पू. से 2000 ई. पू. हैं।

इसके अतिरिक्त पाँच तिथियाँ उपर्युक्त तिथियों से एकदम भिन्न हैं। ये 4540 ई. पू. 4330 ई. पू., 3820 ई. पू., 650 ई. पू. और 390 ई. पू. हैं। ई. पू. की ये तिथि वास्तविकता से बहुत अधिक नहीं हैं क्योंकि ये निम्नतम स्तर पर प्राप्त हुई हैं। 4540 ई. पू. तथा 4330 ई. पू. बहुत प्रारम्भिक तिथियाँ प्रतीत होती है इसी प्रकार 650 ई. पू. और 390 ई. पू. भी अमान्य हैं (दिलीप चक्रवर्ती, 2006) अन्ततः यह माना जा सकता है कि बालाथल पुरास्थल ताम्रपाषाण काल के मध्य आवासित रहा होगा।

समासतः यह कहा जा सकता है कि बालाथल की द्वितीय अवस्था अत्यन्त विकसित अथवा प्रौढ़ स्तर की थी। इस अवस्था के स्तरों से प्राप्त कार्बन 14 तिथि 2400 ई. पू. है, जो प्रौढ़ हड़प्पा संस्कृति के समानान्तर है। इस परिवर्तन के प्रधानतः तीन कारण प्रतीत होते हैं–(1) कृषि द्वारा अतिरिक्त उत्पादन, (2) गुजरात के हड़प्पा निवासियों से सम्पर्क एवं (3) पशुपालन पर निर्भरता। बालाथल से प्राप्त पशुओं की हड्डियों एवं वानस्पतिक प्रमाणों के अध्ययन से इस तथ्य की पुष्टि होती है कि बालाथल के ताम्रपाषाण कालीन निवासी गेहूँ, जौ, चावल, मक्का, चना (हरा व काला), मटर, जंगली भिंडी, बेर आदि से परिचित थे। इनके भोजन में प्रोटीन का अधिकांश भाग पशु मांस का होता था। यह लोग भेड़ और बकरी से पूर्णतः परिचित थे। भेड़, बकरी एवं गाय को पालना एवं चराना इनका प्रमुख कार्य था।

प्रारंभिक ऐतिहासिक काल

1500 ई. पू. के आसपास ताम्रपाषाण संस्कृतियों के पतन के पश्चात् भारतीय परिदृश्य में चित्रित धूसर मृद्भाण्ड संस्कृति का प्रसार हो रहा था, जो 1000 वर्ष तक विद्यमान रही। आलेख के लेखक द्वारा ईसवाल (उदयपुर) में निरन्तर सात वर्षों तक किए गए उत्खनन के दौरान एक कोयले की रेडियो कार्बन तिथि 1053 ई. पू. की प्राप्त हुई जो उस समय मानवीय गतिविधियों की सूचक है। यद्यपि बालाथल से जो प्रारम्भिक ऐतिहासिक कालीन प्रमाण प्राप्त हैं वह अत्यंत उत्साहवर्धक हैं, जिनसे मेवाड़ में चौथी शताब्दी ई. पू. मानवीय गतिविधियों की पुष्टि होती है। इस काल की दो कार्बन तिथियाँ 340 व 160 ई. पू. प्राप्त हुई हैं, जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि मेवाड़ मौर्यकाल में आवासित था।

बालाथल के ऐतिहासिक कालीन जमाव से प्राप्त सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रमाणों में दो लोहा गलाने की भट्टियों के अवशेष हैं। उत्खनन के दौरान भट्टियाँ अत्यंत क्षतिग्रस्त अवस्था में प्राप्त हुई थी, इनके समीपस्थ क्षेत्र से अत्यंत चिकनी मिट्टी से निर्मित बेलनाकार टिअर्स की सतह मिली जिस पर स्फटिक मणि एक कतार से लगाई गई हैं। सम्भवतः यह बेलनाकार टिअर्स का अन्दरूनी भाग था। ये भट्टी में लोहा गलाने के लिए आवश्यक तापमान को नियन्त्रित करने के लिए तथा वायु के प्रवाह को नियमित रखने के लिए लगाए जाते थे। टिअर्स मृदा निर्मित बेलनाकार पाइप होते हैं जिनके मध्य छिद्र होते हैं, यह भट्टियों में वायु को प्रवाहित करने के लिए लगाए जाते हैं ताकि अग्नि प्रज्ज्वलित रह सके। इन भट्टियों की उपयोगिता तथा प्रासंगिकता उत्खनन के दौरान प्राप्त हुए बाणाग्रों, भालाग्रों, कील, हल की फाल, दरांती तथा लोहे की छड़ों से होती है। उत्खनन से प्राप्त ऐसे लौह उपकरणों की संख्या 500 से अधिक है। उत्खनन के दौरान अनाज संग्रह हेतु बनाई गयी कोठियाँ भी प्राप्त हुई हैं, जिनमें जले हुए गेहूँ, सरसों और काले चने के नमूने भी मिले हैं, जो प्रारम्भिक ऐतिहासिक कालीन कृषि व्यवस्था की जानकारी उपलब्ध कराते हैं। बालाथल के प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल से प्राप्त अन्य प्रमाणों में बुने हुए कपास के कपड़े का मिलना इस स्थल को अत्यन्त महत्वपूर्ण बना देता है, जो इस भूभाग में कपास की खेती का स्वयं सिद्ध प्रमाण है।

बालाथल के इस सन्दर्भ की पुष्टि साहित्यिक प्रमाणों से भी होती है। पतंजलि (अग्रवाल वासुदेवशरण, पाणिनी कालीन भारत, 2012, वि. स. पृ. 226) ने अपने महाभाष्य में अपने युग के कुछ

प्रसिद्ध वस्त्रों के नाम जैसे काशिक (काशी जनपद का), मध्यमिका (मध्यमिका का), शाटक (मथुरा का) दिए हैं। मध्यमिका जिसे नगरी नाम से भी जाना जाता है का विस्तार से विवरण एसीएल कार्लाईल ने भी दिया है। नगरी चित्तौड़ के निकट है और बालाथल से लगभग 70 कि. मी. की दूरी पर है। बालाथल से प्रारम्भिक ऐतिहासिक कालीन स्तर से भवनों के अवशेषों के जो प्रमाण प्राप्त है उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि यहाँ के प्रारम्भिक एतिहासिक निवासी बांस व लकड़ी से बनी खपच्चियों से निर्मित मकानों में निवास करते थे जिन पर मिट्टी व गोबर का लेप किया जाता था। भवन आयताकार, वर्गाकार, दीर्घआयताकार अथवा वर्तुलाकार निर्मित किए गए थे। इनकी नींव निर्मित है। एक दीर्घआयताकार भवन संरचना की माप उत्तर–दक्षिण में 4.55 व पूर्व–पश्चिम में 4.20 मीटर है तथा एक अन्य वर्गाकार मकान की माप 5.15 मीटर तथा पूर्व–पश्चिम 5 मीटर है। एक वर्तुलाकार मकान प्रस्तरों की सतह पर भूरे रंग की रेत को बिछाकर कूट कर बनाया गया है। सामान्यतः मकानों की फर्श केवल मिट्टी से ही निर्मित होती थी। एक मकान से 56 से. मी. लम्बा तथा 23 से.मी. चौड़ा टेराकोटा का पात्र प्राप्त हुआ है। बालाथल के प्रारम्भिक ऐतिहासिक कालीन निवासी स्वच्छता के प्रति काफी जागरूक थे। मकानों में से गर्त प्राप्त हुई हैं जिनकी आन्तरिक सतह पर घास बिछि हुई है और चिकनी मिट्टी का लेप किया गया है। यह सामान्यतः गोलाकार प्राप्त हैं, गर्त जिन्हें पुरातत्व की भाषा में साइलो कहा जाता है, अनाज संग्रह हेतु बनाई जाती थी। इसी प्रकार से बड़े-बड़े मर्तबान भी मिले हैं, जो संग्रह हेतु प्रयुक्त किए जाते थे।

उत्खनन के दौरान एक ऐसी भी गर्त प्राप्त हुई है, जिससे जले हुए चावल, गेहूँ, सरसों तथा काले चने के अवशेष प्राप्त हुए हैं।

बालाथल से प्राप्त प्रारम्भिक ऐतिहासिक कालीन मृद्भाण्ड

सामान्यतः बादामी अथवा भूरे रंग के हैं जो ताम्रपाषाण काल की तुलना में तकनीकी दृष्टि से अत्यन्त निम्न कोटि के हैं। ये लाल, राखिए, काले–एवं–लाल तथा काले रंग के मृद्भाण्ड हैं। मृद्भाण्डों के प्रमुख प्रकारों में बड़े मर्तबान, छोटे मर्तबान, गोलाकार मृद्भाण्ड तथा तश्तरियाँ, कटोरे, कप, ढक्कन तथा कुण्डियाँ प्रमुख हैं। समस्त प्रकार के मृद्भाण्डों में परिष्कृत राखिए रंग के मृद्भाण्ड सर्वाधिक हैं जिनकी आकृति चित्रित राखिए मृद्भाण्ड के समान है। चित्रित राखिए भाण्ड विशेषरूप से गंगाघाटी, पूर्वी एवं उत्तरी राजस्थान से प्राप्त होते हैं तथा इनका काल 1500 से 500 ई. पू. के मध्य माना जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ के निवासियों के राखिए मृद्भाण्डों में यह प्रभाव किसी प्रकार के बाहरी सम्पर्क के कारण आया होगा।

दैनिक जीवन में प्रयुक्त होने वाली सामग्री के अवशेष

उत्खनन के दौरान प्रारम्भिक एतिहासिक काल के विभिन्न स्तरों से क्वार्टज अथवा ग्रेनाइट से निर्मित सिलबट्टे, हाथ द्वारा हथौड़े की तरह प्रयुक्त किए जाने वाला प्रस्तर मूसली, गोफन में प्रयुक्त गोल प्रस्तर तथा कूटने वाले प्रस्तरों के अतिरिक्त काँच, टेराकोटा तथा ताम्र निर्मित चूड़ियाँ एवं टेराकोटा, काँच, सीप, सोपस्टोन, अर्धकीमती प्रस्तर से निर्मित छिद्रित माला के मनके भी प्राप्त हुए हैं। उत्खनन से एक पुरुष व स्त्री के टेराकोटा निर्मित मुख प्राप्त हुए हैं जो अत्यंत वास्तविक एवं सुन्दर हैं। यह सम्भवतः शुंग–कुषाण कालीन हैं। एक मुद्रा पर ब्राह्मी लिपि में एक लेख उत्कीर्ण है। ब्राह्मी लिपि के अक्षर ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों के प्रतीत होते हैं। एक गोलाकार पट्टिका मिली।

शवों का संस्कार

प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल से एक नरकंकाल मिला है, जो योगी की मुद्रा में प्राप्त हुआ है। ग्वेन रोबिन्स के अनुसार यह 35–40 वर्ष की आयु का

पुरुष था (वी. एन. मिश्रा, 2007, पृ. 303–304)।

बालाथल के प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल की 14 रेडियो कार्बन तिथियों को आधार पर कहा जा सकता है कि यह छठी शताब्दी ई. पू. से चौथी ई. पू. तक आवासित था, जो पूर्व मौर्य काल, मौर्य काल तथा शुंग–कुषाण का प्रतिनिधि काल खण्ड है। इसके पश्चात् बस्ती पुनः उजड़ी और फिर पूर्व-मध्य काल में पुनः आवासिक हुई, लेकिन उत्खनन में पूर्व मध्यकाल का कोई उल्लेखनीय प्रमाण उपलब्ध नहीं हुआ है क्योंकि मगरी का ऊपरी धरातल स्थानीय निवासियों द्वारा नष्ट कर दिया गया था।

अन्ततः यह मत व्यक्त करना समीचीन होगा कि आहड़ और बालाथल की 1600 वर्ष पूर्व के मेवाड़ के 4500 वर्ष की आद्यऐतिहासिक कालीन और ऐतिहासिक कालीन संस्कृति के उस पक्ष की जानकारी उपलब्ध कराते हैं, जो अन्य किसी स्त्रोत से उपलब्ध नहीं है। सारांशतः इस काल के निवासी ताम्र और लौह धातु प्रगलन में अत्यन्त निपुण थे और उन्होंने कृषि में पर्याप्त विकास किया था। विशेषतः ताम्रपाषाण काल में मेवाड़ के आहड़ निवासियों ने मृद्भाण्ड निर्मित करने की ऐसी तकनीक का विकास किया था जो उच्चा कोटि की थी एवं हड़प्पा संस्कृति से समानता रखती थी। इस संस्कृति सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता कृषि व मृद्भाण्ड परम्परा का विकास स्वयं के द्वारा करना था अर्थात् यह संस्कृति की स्वतः स्फूर्त थी और इस पर कोई बाह्य प्रभाव नहीं था। यह हड़प्पा संस्कृति के समानान्तर उसके प्रभाव क्षेत्र से बाहर स्वतंत्र रूप से विकसीत हुई थी। इसके पतन के पश्चात् लगभग एक हजार वर्ष के अन्तराल पर ऐतिहासिक कालीन संस्कृति का विकास हुआ, जो प्राक् मौर्य एवं मौर्य कालीन कुषाण काल के काल की थी अर्थात् भारत में हुए प्रथम और द्वितीय दोनों सांस्कृतिक उत्थानों के दौरान भारत ही नहीं अपितु सम्पूर्ण दक्षिण एशिया के मेवाड़ ने अपना योगदान दिया था। यह योगदान एकाकी न होकर समीपवर्ती संस्कृतियों से आदान-प्रदान पर भी आधारित था।

सहायक ग्रन्थ

1. अग्रवाल, वासुदेव शरण, पाणिनीकालीन भारत, मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली 12 (वि. सं.)। 2. चक्रवर्ती, दिलीप, द हिस्ट्री ऑफ इंडियन आर्क्रियोलॉजी. मुंशीराम मनोहरलाल, दिल्ली 1988। 3. चक्रवर्ती, दिलीप, द आक्सफोर्ड कॉम्पेनिअन टू इंडियन आर्कियोलॉजी, ऑक्सफोर्ड 2006। 4. घोष, ए., एन इनसाइक्लोपेडिया ऑफ इंडियन आर्कियोलॉजी (सं.), मुंशीराम मनोहरलाल, नई दिल्ली, 2003। 5. मिश्रा, वी. एन., राजस्थान प्री हिस्टोरिक एण्ड अर्ली हिस्टोरिक फाउन्डेशन्स, आर्य बुक्स इन्टरनेशनल, नई दिल्ली, 2007। 6. सिंह, कंवर, चेलकोलिथिक टेक्नोलॉजी एण्ड क्राफ्ट स्पेशिएलाइजेसन इन राजस्थान, प्रकाशित शोध प्रबन्ध, जनार्दनराय नागर राजस्थान विद्यापीठ (डी) विश्वविद्यालय। 7. व्यास, कुलशेखर, मेवाड़ के प्राचीन एवं मध्ययुगीन स्थापत्य स्मारकों का पुरातात्विक, सांस्कृतिक एवं कलात्मक अध्ययन (अप्रकाशित शोध प्रबन्ध), जनार्दन राय राजस्थान विद्यापीठ (डी) विश्वविद्यालय, उदयपुर। 8. मेन एण्ड एनवारमेन्ट, 21 (1), 1996, 22 (2)।9. इंडियन आर्कियोलॉजीकल रिव्यु, 1993–94, 1995–96, 1996–97, 1997–98, 1998–99। 10. शोध पत्रिका, वर्ष 55, अंक 1–2, 2004।

निदेशक, साहित्य संस्थान, इंस्टिटयूट ऑफ राजस्थान स्टडीज, जनार्दनराय नागर राजस्थान विद्यापीठ (डी) विश्वविद्यालय, प्रताप नगर, उदयपुर (राजस्थान) 313001
padndey_lalit2003@yahoo.com

●

यह आत्मविश्वास रखो कि तुम पृथ्वी के सबसे आवश्यक मनुष्य हो। आत्मविश्वास मनुष्य के जीवन की सफलता का सबसे बड़ा रहस्य है।

\- मैक्सिम गोर्की

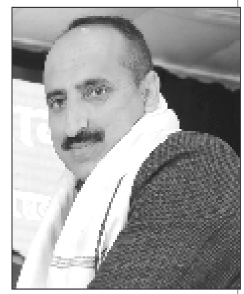

हिमाचल प्रदेश की सांस्कृतिक धरोहर प्रसिद्ध लोकनाट्य : करियाला एवं ठोडा

डॉ. भवानी सिंह

देव भूमि हिमाचल प्रदेश जिस प्रकार अपने शान्त वातावरण, प्राकृतिक सौन्दर्य, सांस्कृतिक धरोहर, त्यौहारों और उत्सव, रीति-रिवाज एवं मेलों आदि के लिए प्रसिद्ध है। उसी प्रकार यहां के लोकनाट्य, लोक-गीत तथा लोक संगीत, लोक-गाथाओं की एक समृद्ध परम्परा रही है। पहाड़ी प्रदेश में मनोरंजन के प्रमुख साधनों के रूप में लोकनाट्यों का जन्म हुआ होगा। इसलिए यहां की रस्वती लोकरंजन कला की परंम्परा बड़ी प्रसिद्ध तथा समुन्नत रही है। आधुनिक सभ्यता के प्रभाव से बहुत कुछ मुक्त प्रदेश की लोकधर्मी पहाड़ी नाट्य कला आज भी ग्रामीण लोक जीवन में जनसमुदाय के मनोरंजन का प्रमुख साधन है। इस प्रदेश में प्राचीन-भर्वाचीन पहाड़ी लोक नाटकों का अतुल भण्डार विद्यमान हैं। इतर प्रदेशों की लोकर्धी नाट्य परम्पराओं ने जहां देश व्यापी और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर लोकप्रियता तथा ख्याती प्राप्त की है वहां सिवाय 'करयाला' एवं 'ठोडा' लोकनाट्य ने किसी भी अन्य पहाड़ी नाटकों ने इस पर्वतीय क्षेत्रों की दहलीज को पार नहीं किया है। अतः पहाड़ी नाटकों की उपयोगिता का क्षेत्रीय सीमाओं से आगे ले जाने के प्रयास अपेक्षित है।

किसी भी समाज की कुशलता और प्रसन्नता उसकी अपनी सांस्कृतिक परम्पराओं के संरक्षण पर निर्भर करती है। इस दृष्टि से हिमाचल प्रदेश के लोगों का अपनी समृद्ध सांस्कृतिक विरासत लोक नाट्य परम्परा पर गर्व करना स्वाभिक ही है। जिसको इन्होंने आधुनिक संचार एवं प्रसार और प्रसारण सभ्यता के प्रभावों के बावजुद सुरक्षित रखा है। यहां के जन समुदाय की सांस्कृतिक समृद्धि के प्रमाण इनके विभिन्न प्रकार के लोकनृत्य, लोकनाट्य सामूहिक मनोरंजन के साधन है। जिन्हें परम्परागत कलाओं के रूप में अब तक जीवित रखा है।

लोकनाट्य

लोकनाट्य-गीतनृत्य एवं संगीत से युक्त लोकजीवन की रचनात्मक कथावस्तु को लोकबोली एवं लोकभाषा में अभिनीत करना ही लोकनाट्य है। हिमाचल प्रदेश के विभिन्न जिलों का लोकजीवन भी प्राचीन लोकनाट्य से गुंजित रहा है। यहां के लोकनाट्य में रास, संवाग, भडैती या नकल, भगत या नौटंकी अधिक लोकप्रिय रहे है परन्तु आज इस प्रदेश में लोकनाट्य की कई विधाएं विलुप्त हो चुकी है। लेकिन कई ऐसे लोकनाट्य भी है जिनका मंचन आज भी सार्वजनिक समारोह या पारंपरिक उत्सव के अवसर पर निरंतर हो रहा है। जिसमें

जिला मण्डी का लोकनाट्य-'बांठडा', जिला कांगड़ा का लोकनाट्य-भगत, जिला कुल्लू का हरंण लोकनाट्य, जिला चम्बा का लोकनृत्य-हरणेतर, जिला किन्नौर का होरिंगफो और जिला शिमला, सिरमौर एवं सोलन के लोकनाट्य में करियाल़ा, ठोडा, सिंह और बूढ़ा तथा विशू आदि लोकनाट्य प्रमुख है। अतः उपर्युक्त लोकनाट्य में ठोडा और करियाल़ा लोकनाट्य हिमाचल प्रदेश में सबसे प्रसिद्ध है। जिनका ऐतिहासिक, सामाजिक, दैविक एवं सांस्कृतिक संपूर्ण स्वरूप निम्नवत है :-

प्रमुख लोकनाट्य : करियाला

पारम्परिक लोकनाट्य 'करियाल़ा' प्राचीन काल से ही हिमाचल प्रदेश के जनमानस के मनोरंजन का प्रमुख श्रोत रहा है। विशेषतः जिला शिमला, सोलन और सिरमौर क्षेत्रों में यह लोकनाट्य अधिक लोकप्रिय है। हिमाचल में प्रचलित अन्य लोकनाट्यों की भांति 'करियाल़ा' अधिक लोकप्रिय है। करियाल़ा लोकनाट्य में हास्य-व्यंग्य रसों से भरपूर स्वांग और सामाजिक अच्छाई-बुराई को दर्शाया जाता है। वैसे तो इसका आयोजन किसी भी समय में किया जाता है और वर्ष भर में कहीं न कहीं चला रहता है, किन्तु सर्दी के दिनों में इसका विशेष रू प से आयोजन होता है। लेकिन करियाल़ा का असली समय दीपावली के त्यौहार से आरम्भ होता है। प्राचीन समय में ग्रामीण समुदाय के लोग अपने खेतों और खलिहानों में कठिन परिश्रम करके जब किसान कृषि से निवृत हो जाते थे तो उन्हें मनोरंजन की आवश्यकता महसूस होती थी। इसी आवश्यकता की पूर्ति 'करियाला' लोकनाट्य के 'कलाकार' अर्थात् 'करियाल़ची' पूरी करते थे। यह परम्परा आज भी कई ग्रामीण क्षेत्रों में देखने को मिलती है। लेकिन आधुनिक मनोरंजन के साधनों ने इस परम्परा पर अवश्य विराम लगा दिया है। आज भी ग्रामीण समाज में मनोरंजन की पूर्ति के लिए टेलीविजन, रेडियो आदि पर प्रस्तुत किए जाने वाले कार्यक्रमों को अधिक देखा जाता है परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी लोकनाट्य की परम्परा आज भी ग्रामीण समाज में प्रचलित है।

करियाल़ा : उद्‌भव एवं विकास

" 'करियाल़ा', करयाला अथवा करियाड़ा, कराड़ा अनेक तरह से पढ़ने व सुनने को मिलता है। लेकिन इसका उच्चारण क्षेत्रीय बोलियों के आधार पर ही होता है। 'करियाल़ा' शब्द की उत्पत्ति को लेकर विद्वानों के अलग-अलग विचार हैं। कई विद्वान् ने 'करियाल़ा' शब्द की उत्पत्ति स्थानीय शब्द 'करेल' (कुरेदना/खोदना/खोजना), करयाल (कचनार जाति का एक वृक्ष), कुरल (पक्षी विशेष का नाम), करैला या करोला (उलटना, पलटना, सचेत करना) और संस्कृत के कृ धातु से जोड़ने का प्रयत्न किया है जिसके परिणामस्वरूप 'करेला' या 'खरेला' से इसका सम्बन्ध अधिक निकट मालूम होता है।" अन्य विद्वानों ने "करियाल़ा' को स्थानीय शब्द 'करेल' से उत्पन्न हुआ माना है। उनका कहना है कि "हमारे प्रदेश के पूर्वी जिलों में करियाल़ा अत्यधिक प्रचलित रहा है। किसी भी देवता के मन्दिर में जाकर कोई दुःखी ग्रामीण अपनी मनौती रखता है। मनौती को पहाड़ी भाषा में 'करेल' भी कहते हैं। जब यह करेल पूरी हो जाए तो वह उस देवता की आस्था में लीन हो जाता है। वह सोचता है कि देवी-देवता तो तब प्रसन्न होंगे जब अपने सम्बन्धियों एवं विरादरी के सभी परिजनों को एकत्र करके देवता की 'करेल' के लिए कुछ नाच-नृत्य, कलावार्ता की जाए।"

पहाड़ी भाषा में 'क रि आ ये ला' का अर्थ है 'करके लायेगा' अर्थात जो अभिनय वार्तालाप, गायन, नृत्य पात्र को दिया, क्या वह उसे कर सकेगा। इन्हीं शब्दों से इस लोकनाट्य का नाम करयाल़ा पड़ा तथा ग्रामीण लोकजीवन के मनोरंजन के लिए इसका विकास होता गया।

करियाल़ा का उद्देश्य

'करियाला' का मुख्य उद्देश्य अभिनय के माध्यम से ग्रामीण जनमानस का मनोरंजन तथा समाज में

व्याप्त अच्छाई-बुराई के पहलुओं को अभिनय द्वारा प्रस्तुत करना होता है। इस लोकनाट्य के स्वांगों में हंसाने वाले स्वांगों की प्रधानता अधिक रहती है। समाज की कमियों तथा त्रुटियों पर बड़े सुरुचिपूर्ण ढंग से व्यंग्य कसे जाते हैं। लोकमानस में जो कमियां एवं कुरीतियां समाज के रहन-सहन, रीति-रिवाजों आदि में देखता है उन्हीं पर करियालची व्यंग्य प्रस्तुत करते हैं। समाज की इन कमियों को इस प्रकार दिखाया जाता है कि हंसी तथा मनोरंजन भी होता रहे और तीखी सच्चाई भी प्रकाश में लाई जाए ताकि भविष्य में जनमानस उस पर विचार करके उन्हें दूर करने का प्रयास करे। अतः मनोरंजन के साथ-साथ 'करियाला' में प्रस्तुत स्वांगों का समाज सुधार भी एक अन्य ध्येय होता है। एक अन्य ध्येय के अनुसार पहाड़ी जनमानस का देवी-देवताओं पर अटूट विश्वास रहा है। वह हमेशा इनसे अपनी मनोकामना पूर्ण होने के लिए मनौती रखता है। मनौती पूर्ण होने के उद्देश्य से भी 'करियाला' का आयोजन किया जाता है।

करियाला का स्वरूप

आधुनिक नाटकों की तरह 'करियाला' लोकनाट्य के लिए किसी विशेष रंगमंच की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसका मंचन किसी भी खुली जगह अथवा मैदान में खाड़ा (अखाड़ा) बांधकर किया जाता है। अखाड़े के मध्य में धूनी और चारों ओर लम्बे-लम्बे डण्डे बाँधकर चकोर मंच बनाया जाता है। इसके तीन ओर दर्शक बैठते हैं तथा चौथी ओर कलाकरों के सजने-संवरने का स्थान बना दिया जाता है। 'करियाला' लोकनाट्य में कलाकरों की वेषभूषा किसी विशेष नियम में बंधी नहीं होती। साधारणतः लाकनाट्य के मंचन के लिए जो वस्तुएं आसानी से मिल जाएं अर्थात् काम चलाउ वस्तुएं ही प्रयोग में लाई जाती हैं। मुंह काला करने के लिए तवे की कालिख तथा सफेद बाल व दाढ़ी के लिए ब्यूल़ (पेड़ विशेष) के सेल का प्रयोग किया जाता है। फटे-पुराने वस्त्र, कम्बल तथा पशु-पक्षियों की खालों का प्रयोग भी किया जाता है। मुँह ढांपने के लिए मुखौटों का प्रयोग किया जाता है जो स्थानीय कारीगरों द्वारा लकड़ी आदि से बनाए जाते हैं या फिर कागज, गत्ते, प्लास्टिक आदि से बने खरीदकर भी लाए जाते हैं तथा इन मुखौटों को कलाकार विशेष रूप से अपने मुंह पर लगाते हैं। सर्दी से बचने एवं रोशनी के लिए मोटे-मोटे लकड़ों के ढेर घ्याने के रूप में जलाए जाते हैं।

करियाला में लोकसंगीत एवं वाद्य यन्त्र

करियाला लोकनाट्य का आरम्भ लोकसंगीत के साथ आरम्भ होता है। इसमें रणसिंहा, करनाल, चिमटा, नगारा, दमामटू, बांसुरी, ढोलक, खंजरी आदि वाद्य यन्त्रों का प्रयोग बजन्तरियों द्वारा किया जाता है। इनकी मधुर तान दर्शक के लिए निमन्त्रण एवं आकर्षण की घड़ी होती हैं। अखाड़े के एक किनारे पर बजन्तरी बैठ जाते हैं। करियाला को देखने आए हुए जनसमुदाय का स्वागत वाद्य यन्त्रों के संगीत द्वारा तथा करियाला का प्रारम्भ बधाई ताल के साथ होता है। बधाई ताल के बजते ही चन्द्रौल़ी अर्थात् चन्द्रावली अखाड़े में प्रवेश करती है। बजन्तरी अखाड़े के मध्य जलती धूनी में अक्षत फैंकते हुए तीन बार प्रदक्षिणा करते हैं। चन्द्रौली लक्ष्मी के रूप में होती है। वह एक नारी है, परन्तु वास्तव में परुष ही चन्द्रावली का अभिनय करता है। चन्द्रावली अखाड़े में आते ही वाद्य यन्त्रों को छूती है। अलाव की परिक्रमा करती है तथा बजन्तरी एवं दर्शकों के उपर जलते धूप का पात्र घुमाकर कार्यक्रम का शुभारम्भ करती है। चन्द्रावली एक नटी है। वह बधाई ताल के बाद जंगताल और करियाला ताल में नृत्य करती है। ये तालें नृत्य के साथ-साथ धीरे-धीरे द्रुत गति पर पहुँचती हैं। कई बार चन्द्रावली के साथ एक अन्य पात्र भी रहता है जिसे सिद्ध या डांगरा कान्हा कहा जाता है। कान्हा संभवतः कृष्ण-कन्हैया ही है। परन्तु वह केवल एक दृश्य में कृष्ण का अभिनय करता है। उसे डांगरा कान्हा इसलिए कहा जाता है कि उसके हाथ में डांगरा होता है। खेल शुरु होने से पूर्व यही पात्र मशालों को

जलाता है। इस सारी प्रक्रिया को अखाड़ा बांधना कहते हैं। अखाड़ा बांधने से अभिप्राय इष्टदेव की पूजा करके करियाला के सफल आयोजन की मनोकामना से है। इसे मन्त्रोच्चारण द्वारा वंदना द्वारा या परिक्रमा द्वारा पूरा किया जाता है। चन्द्रावली विभिन्न पहाड़ी धुनों में नृत्य करने के पश्चात वापिस अपने स्थान चली जाती है। तभी सभी दर्शकों के बीच में कहीं बाहर से अलख जगाता हुआ एक व्यक्ति मंच की ओर लपकता है और उसके साथ ही चारों दिशाओं में दो, तीन और साधु मंच की ओर लपकते हैं। सारे वातावरण में हलचल सी मच जाती है। इस प्रकार से करियाला का अभिनय चलता रहता है।

करियाला की कथावस्तु

करियाला लोकनाट्य जबकि मौखिक भाषा पर आधारित है। इसकी अपनी कोई विशेष या लिखित कथावस्तु नहीं होती। कलाकरों को अपने-अपने संवाद जबानी कहने होते हैं। उनकी हर बात समय के अनुकूल होती है। कलाकार जो भी विषय लेते हैं उसकी उन्हें पूर्ण जानकारी अवश्य रहती है और उस जानकारी को वह किस चतुराई से अभिनय के माध्यम से अभिव्यक्त करते हैं, यही उनका कमाल है। करियाला लोकनाट्य में नाटकों की तरह एक ही कथानक नहीं चलता अपितु अनेक कथानक रहते हैं। परन्तु इसमें पौराणिक, ऐतिहासिक कथानकों का अभाव रहता है। सामाजिक विषय ही इसमें अधिक रहते हैं। हास्य और व्यंग्य द्वारा मनोरंजन करना ही इनका लक्ष्य रहता है। इनकी कथावस्तु में छोटी-छोटी झलकियों और संवादों द्वारा प्रस्तुत कथानकों में आध्यात्मवाद, दर्शन तथा योग का परिचय भी मिलता है। इनमें लोकपरक अनुभूतियों और मनोरंजक भावनाओं का स्वस्थ स्वरूप उपलब्ध होता है। वस्तुतः करियाला में जीवन की यर्थाथ झांकी देखने को मिलती है। जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में करियालची को जो अनुभव होता है उसे वह बड़ी निपुणता से प्रस्तुत करता है।

करियाला का आयोजन

'करियाला' का आयोजन एक सुव्यवस्थित ढंग से किया जाता है। जैसे आरम्भ में कोई धार्मिक अथवा साधु संबंधी का स्वांग लाया जाता है। इसके पश्चात किसी प्रसिद्ध ऐतिहासिक पुरुष की झांकी तथा फिर कोई सामाजिक एवं दैनिक जीवन से संबंधित कार्यक्रम को प्रस्तुत किया जाता है। बीच-बीच में हंसाने वाले पात्र द्वारा जो एक प्रकार का विदूषक बना रहता है लोगों को कई प्रकार की हंसाने वाली बातों से उनकी ज्ञानवृद्धि तथा मनोरंजन कराया जाता है और बीच-बीच में चन्द्रवली का नृत्य और इससे संबंधित गाने को भी प्रस्तुत किया जाता है। वास्तव में विदूषक का इन 'करियाला' में अपना ही महत्त्व होता है क्योंकि लोगों का मनोरंजन इनका मुख्य उदेश्य होता है। अतः प्रत्येक स्वांग में कोई न कोई हंसाने वाला पात्र अवश्य होता है। साधुओं में कोई हंसोड़ चेला होता है जो गुरु की सेवा ऐसे ढंग से करता है कि लोग हंस पड़ते हैं। साहब के स्वांग में कोई बैरा, खानसामा अथव चौकीदार हंसाने वाली बातें करता रहता है। साहब की बातों को उल्टा-सीधा समझता है। सामाजिक संबंधी लगभग सभी बातों का प्रदर्शन करके गौण रूप में गांववासियों को इस लोकनाट्य में शिक्षित किया जाता है। जैसे आधुनिक साधु-संतों के ढोंग दैनिक सामाजिक जीवन तथा इसके प्रत्येक अंशों पर प्रकाश डालना इनकी कुरीतियों और दूषित पहलुओं पर मनोरंजक ढंग से प्रकाश डालना आदि स्वांगों को प्रस्तुत किया जाता है। करियाला में अनेक हास्य और व्यंग्य प्रसंग प्रस्तुत किए जाते हैं। साधारणतः लाड़ा-लाड़ी, जोगी-जोगिन, नट-नटिनी के संवाग से लेकर समाज की बड़ी-बड़ी बुराईयों को इन सवांगों में प्रस्तुत किया जाता है। समाज की समस्याओं को प्रस्तुत करते हुए उनका समाधान भी इन्हीं करियाला एकांकियों में निहित रहता है। साहब और मेम का प्रहसन तथा पति-पत्नी के झगड़ों से लेकर सरकारी नौकरशाही का मजाक तथा सामान्य पारिवारिक समस्या को करियाला का अंग

बनाया जाता है।

प्रदर्शक दल

करियाला लोकनाट्य को प्रस्तुत करने के लिए कलाकारों की मण्डलियां बनी हुई हैं जिन्हें करियालची कहा जाता है। इन करियालचियों द्वारा ही विभिन्न गांवों में जाकर करियाला लोकनाट्य का प्रदर्शक किया जाता है। करियाला की पीढ़ियों दर पीढ़ियों से मुख्यतः तीन चार ही मण्डलियां रही हैं। इनमें सोलन जिला के गड्डिये करियालची, भांजण-संगोई के करियालची और जिला शिमला के धामी करियालची, शकराह के करियालची, मण्डोहडी के करियालची आदि।

प्रसिद्ध लोकनाट्य : ठोडा

ठोडा लोकनाट्य हिमाचल प्रदेश का पौराणिक एवं ऐतिहासिक लोकनाट्य है। इसका सीधा संबंध महाभारतकालीन पाण्डवों और कौरवों से है। भारतवर्ष के प्रांतीय नाटकों में यह लोकनाट्य हिमाचल प्रदेश का प्रतिनिधि लोकनाट्य है। यह लोकनाट्य ने हिमाचल प्रदेश में ही प्रसिद्ध नहीं है अपितु राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर ख्याति प्राप्त कर चुका है। आज भी इसका मंचन पारंपरिक उत्सवों और सार्वजनिक समारोह के अवसर पर निरन्तर होता जा रहा है जिसका वर्णन निम्नवत है :-

पहाड़ी में एक लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि *"पीपली रा मसाला ठोडा रा खेल।"* जैसे मिर्च का स्वाद मुंह जला कर भी विशिष्ट रहता है, और मिर्च-मसाला के बिना दाल-सब्जी स्वादिष्ट बनती ही नहीं है तथा बहुत लोगों को उपर से अलग मिर्च खा कर भी जीभ जलाए बिना खाने में स्वाद नहीं आता, उसी तरह ठोडा में तीर की मार खाकर भी इस खेल का आनन्द दुगुना-चौगुना होता है और यह खेल देखने वालों के लिए भी उत्तना ही मनोरंजक होता है जितना मार खाने और मारने वालों के लिए ओजोत्पादक। देवता के मन्दिर के सामने का खुला आंगन या गांव के निकट खुला स्थान इस खेल का मंच होता है। जिसे जुबड़ या जुबड़ी भी कहते है अर्थात् दुब (सं. दूर्वा) का हरा-भरा मैदान। खेल आरम्भ होने से पुर्व कलाकार इस जुबड़ की वन्दना करते हैं और अनेक ढंग से इसका आह्नान करते हैं, यथा-

फूले मेरी जुबड़ीए सूईने रे फूले याछिंछड़ी जेई फूले मेरी जुबड़ीए।

अर्थात् खिल मेरी जुबड़ी सोने के फूल की तरह खिल या छिंछड़ी (एक विशेष झाड़ी जिसके घने सुन्दर फूल लगते हैं) की तरह खिल मेरी जुबड़ी। हिमाचल प्रदेश के जिला सोलन का बड़ा मैदान इसी खेल के कारण ठोडा-ग्राउंड के नाम से प्रसिद्ध है, उसे अब जुबड़ या जुबड़ी नहीं कहते और न ही अब यह ठोडा का स्थान ही रहा है। देवताओं के प्रांगण में आयोजित होने और अनेक बार देवताओं के मेलों में ठोडे के खेले जाने के कारण कुछ विद्वानों ने इसे धार्मिक आस्था से जोड़ने के प्रयत्न किए है परन्तु ऐसा विचार निराधार है। लोक-नाटक तो प्रायः मेलों और अन्य उत्सवों पर ही आरम्भ से आयोजित होते रहे हैं। ठोडा आज पूर्णतया एक लोक-नाट्य है यद्यपि यह भी सत्य है कि कई बार इस खेल ने युद्ध या लड़ाई का रूप भी धारण किया है।

उपकरण

मूलतः यह धनूर्विद्या का एक उत्कृष्ट खेल है। खेल में प्रयोग में लाए जाने वाले कमान को धणु या धनु (धनुष) और तीर को शौरी या शरी (शर) कहते है। धनु प्रायः चाखल या चांवा नामक स्थानीय विशेष लकड़ी का बना होता है जिसकी लंबाई डेढ़ मीटर से 2 मीटर तक होती है। लम्बाई खेलने वालों के कद पर निर्भर करती है। परन्तु लम्बाई प्राय? डेढ़ मीटर से कम और 2 मीटर से अधिक नहीं होती। तीर नगाली लकड़ी का बना होता है। इसकी लम्बाई धनु के अनुपात में एक से डेढ़ मीटर तक होती है। यह लकड़ी बीच से खोखली होती है और बांस की एक स्थानीय किस्म है। इस नगाली के एक और के खुले मुंह में से लगभग 10-12 सेंटीमीटर का एक और लकड़ी का टुकड़ा लगाया जाता है। यह एक ओर से पतला और तीखा होता है जो नगाली के छेद में से गुजारा जाता है।

दूसरी ओर यह चपटा होता है ताकि जब वह प्रतिद्वन्द्वी की टांग में लगे तो बहुत गहरी चोट न पहुंचाए। इसी लकड़ी को ठोडा कहते है। यह साधारण खेल का यन्त्र है। जहां दो व्यक्तियों के बीच प्रतिद्वन्द्विता कई वर्षों से चल रही है और दोनों धनुर्विद्या के महारथी हों तो नगाली के आगे तेज मुंह वाली लकड़ी का ठोडा भी होता है। प्रायः देखने में आया है कि दोनों दलों के नेताओं के बीच खेल में ठोडा तीखी लकड़ी का होता है और अन्य जोड़ियां साधारण और कउड़। कउड़ खेल में ठोडे का सिरा तीखा होता है। कई बार खेलते-खेलते ठोडा निकल जाता है तब नगाली की शौरी या शरी ही शरीर बींध देती है। कई स्थानों पर कउड़ का मतलब टांगों में पतला कपड़ा पहन कर खेलने से होता है। वहां साधारण ठोडे में कई तह मोटे कपड़े का पाजामा पहना जाता है। साधारण शब्दों में कउड़ का अर्थ एक तह और दोबड़ का अर्थ दो-तह या दो-बल है। तीर कमानों का प्रबन्ध या तो उस दल को करना होता है जो दूसरी पार्टी को आमन्त्रित करता है या बुलाए गये दल अपने साथ ही सामान लेकर आते हैं। एक दल में लोगों की संख्या 500 तक हो सकती है। खेल आरम्भ होने से पहले प्रतिद्वन्द्वी दलों के खिलाड़ियों की जोड़ियां मिलाई जाती हैं।

यह खेल प्रायः दो दलों के बीच होता है। जिन्हें "खूंद" (योद्धाओं का समूह या खण्ड) कहते हैं।

दोनों खूंद अलग-अलग नाम से पुकारे जाते है। इनमें से एक को शाठा और दूसरे को पाशा कहते हैं। शाठा को शाठी, शाठड़, शठड़े और पाशा को पाशी, पाशड़, पाठा, पाठड़, पाठड़े कहते हैं। लोक-धारणा के अनुसार पाशे महाभारत के पांडवों के वंशज है और शाठे कौरवों की सन्तान है। महाभारत में कौरवों की संख्या सौ बताई गई है, परन्तु हिमाचल की लोक-संस्कृति और जन-श्रुति के अनुसार इनकी संख्या साठ थी। इसीलिए साठ की सन्तान शाठे या शाठड़ कहलाए। इसका अर्थ यह हुआ कि कौरव साठ भाई थे, सौ नहीं। पाण्डव लोक धारणा में भी पांच ही रहे। इसलिए पंच या पांच से पाशी कहलाए। ठोडा खेल का ठोडा खेल का शाठा पक्ष कौरव दल है जिनकी संख्या साठ और पांच पाशा दल की संख्या पांच है। परन्तु ठोडा खेल खेलते हुए इसकी संख्या साठ और पांच हो ऐसी बात नहीं है। खेलने वालों की संख्या हमेशा बराबर रहती है।

महाभारत का युद्ध धनुष-बाणों के आधार पर लड़ा गया था और यह भी सत्य है कि यह युद्ध मूलतया द्वन्द्वयुद्ध था यह प्रथा हिमाचल के ठोडा लोक-नाट्य में अक्षुण्ण प्रचलित रही है। यहां भी केवल दो खिलाड़ियों का परस्परिक खेल होता है। भले ही मैदान में बीस खिलाड़ी उतरे हों, परन्तु प्रत्येक केवल अपने प्रतिद्वन्द्वी से ही लड़ता है। कोई किसी तीसरे पर धणु और शरी से वार नहीं करता। ठोडा खेल की प्रकृति से इस बार पर सन्देह किया जा सकता है कि यह आदिकाल से ही एक लोक-नाट्य रहा हो। निश्चय ही ठोडा प्राचीनकाल में उन जातियों का वास्तविक युद्ध प्रशिक्षण रहा है जिन्होंने महाभारत के युद्ध में भाग लिया। यह उल्लेखनीय है कि ठोडा लोक-नाट्य की प्रथा हिमाचल प्रदेश के केवल खश राजपूतों में ही प्रचलित है और शेष जातियां इसमें देखने का आनन्द लेने के सिवाय अन्यथा भाग नहीं लेती। तथा साहित्य इस बात का साक्षी है कि खश एक पूर्व-आर्य प्रसिद्ध वीर जाति रही है और उसने महाभारत युद्ध में सक्रिय भाग लिया है।

हिमाचल प्रदेश के खश राजपूतों ने अपने खून्दों के अन्तर्गत शाठी और पाशी के बीच ठोडा युद्ध-नाट्यों के द्वारा न केवल अपनी शूरवीरता और धनुर्विद्या की कुशलता को आज तक संघृत रखा है बल्कि अपनी जातीय स्निग्धता को भी सुरक्षित रखा है। हिमाचल प्रदेश के इतिहास में यह भी वर्णित है कि "पहाड़ी क्षेत्र के किन्नर, किरात, खश लोगों ने महाभारत युद्ध में भाग लिया था और इसलिए या तो शाठी लोग कौरवों के और पाशी लोग पाण्डवों के वंशज हैं या शाठी वे जातियां हैं जिन्होंने महाभारत में कौरवों का साथ दिया और पाशी पाण्डवों के सहयोगी होंगे। कुल्लू में मनाली

के निकट आज देवी रूप में प्रतिष्ठित महाभारत की हिडिम्बा का वीर पुत्र घटोत्कच इसी धरती का राजा था जो पाण्डवों की ओर से लड़ा था और जिस पर कर्ण ने वह अचूक वाण चलाया था जो उसने अर्जुन के लिए सुरक्षित रखा था तथा इस तरह घटोत्कच महाभारत के युद्ध का निर्णायक था। पाण्डवों का इस क्षेत्र में विशेष सम्बन्ध रहा है। वे यहीं हिमालय के पांडकेश्वर में जन्में थे। यहीं पर लाखा मण्डल में दुर्योधन ने उनके लिए लाक्षागृह बनवाया था। यहीं पर पाण्डवों ने वनवास के दिन बिताए और उन दिनों अनेक स्थानों पर देव-मन्दिर स्थापित किए जो आज तक उनके नाम से पूजे जाते हैं। अनेक जल स्त्रोत और समतल भूमि पाण्डवों ने ही यहां के कृषि समाज को प्रदान की है। यहीं से पाण्डवों का स्वार्गारोहण का मार्ग था और आज भी लोगों की धारणा है कि इधर से उत्तर-पश्चिम की ओर गए पाण्डव वापसी पर इसी क्षेत्र से होकर हस्तिनापुर लौटेंगे। इसीलिए खश लोग ठोडा लोक-नाट्य के माध्यम से अपनी कला-कुशलता और वीरता को सुरक्षित रखे हुए हैं। इस क्षेत्र में ऐसे ही अवसरों पर गाई जाने वाली पण्डवायण (महाभारत) इस धारणा का प्रमाण है।"

ठोडा के लिए निमंत्रण

("सोमसी जनवरी, 1976 अंक पृ. 30-45 में कुमारी भुवनेश्वरी राठौर द्वारा प्रस्तुत लेख "पहाड़ी लोक महाभारत" पण्डवायण"।)

ठोडा लोक-नाट्य आदि से अन्त तक मनोविनोद का आकर्षण केन्द्र बना रहता है। इसका आरम्भ ही बड़े अनोखे ढंग से होता है। जिस किसी खूंद ने ठोडा युद्ध-नाट्य के लिए दुसरे खूंद को चुनौती देनी हो तो उस खूंद के कुछ युवक चुपके से जाकर दूसरे खूंद के ग्राम देवता की पूजा या ग्रामवासियों के पीने के लिए प्रयुक्तहोने वाले जल की बावड़ी या जल स्त्रोत में झाड़ी की टहनियां फेंक देते हैं और दूर जाकर छिप कर देखते हैं। मान लें कि पाशी खूंद वालों ने शाठी खूंद कबीले को युद्ध के लिए ललकारना हो, तो पाशी खूंद के कुछ नवयुवक शाठी खूंद के कबीले की बावड़ी या जल स्त्रोत या चश्में में टहनियां फेंक आएंगे और साथ ही शाठी गांव की सीमा से बाहर निकल कर उनके मुखिया को आवाज़ से सूचित भी कर देंगे। इसका अर्थ हुआ कि उस पाशी कबीले ने शाठी कबीले को ठोडा युद्ध-नाट्य के लिए ललकारा है। यह सूचना पाते ही शाठी लोग युद्ध की तैयारी करते हैं। अब कुछ स्थानों पर खूंद अपने मेले के अवसर पर दो अन्य खूंदों को परस्पर ठोडा खेलने के लिए भी विधिवत् बुलाया करते हैं। ऐसे खेल को विशेष रूप से आधुनिक रूप देकर आयोजित किया जाता है। बिशु के मेले इन खेलों के प्रमुख दिन होते है। बिशु से अभिप्राय बैसाखी के मेले से है, परन्तु यह मेला मैदानों की तरह केवल प्रथम बैशाखी को नहीं लगता बल्कि प्रथम बैशाख से आरम्भ होकर मध्य ज्येष्ठ तक विभिन्न स्थानों पर विभिन्न तिथियों में आयोजित होता रहता है और इनमें ठोडा का खेल प्रमुख आकर्षण रहता है। निर्धारित तिथि के दिन शाठी लोग जिन्हें आमन्त्रित किया होता है, अपने ग्राम-देवता के सामने एकत्रित होंगे। उससे अपनी विजय के लिए आशीर्वाद लेंगे और पूरे दलबल के साथ पाशी के गांव की ओर प्रस्थान करेंगे। प्रत्येक व्यक्तिके हाथ में फरसा (सं० परशु), डांगरा (कुल्हाड़ा), धणु (धनुष), शरी (तीर), गंडासा, डिंगा (डंडा), तरार (तलवार) ढाल या लाठिया या बन्दूक होंगी। किसी का हाथ बिना हथियार के नहीं होता। ग्रामदेवता के मन्दिर के सामने अनेक बंदूके दाग कर सलामी दी जाती है और पूजन किया जाता है। तब शाठा दल पूरी तैयारी के साथ ढोल-नगारे, दमामा, रणसिंघा, तुरी, शहनाई, करनाल आदि वाद्य यंत्रों के रौद्र-ताल में पाशी के गांव की ओर चल पड़ते है। मार्ग में हर गांव वाले उनका स्वागत करते हैं, हर गांव में से दल नाचते-गाते, उछलते कुदते, बन्दूकों की सलामी देते हुए आगे निकलता है। अनेक वाद्ययन्त्रों का घोर नाद सबका दिल दहला देता है। इनकी टंकार ध्वनियों में दलबल वीररसयुक्त शौर्य के गीत गाते हुए आगे बढ़ती है-

ओरू दे मेरी डांगरी, डांगरौ, डांगरी भाई डांगरै,
मेरे जाणी जातरौ, जातरौ, भाई जातरी।

ठोडा के लिए अपने ग्राम से प्रस्थान करते हुए हाका गाया जाता है-

तशा हुईला कालपोउ तू मूंखे आण्डा लौड़िणो आइला

तेसी खान रा पात्थरो तू हुईला तो मूंखे लौड़िणो आइला

शाठी रा खेलटू पाशी री मोड़ी मेरीये.....

हां तो ओसो पाशी री मोड़ी लोउरा भूखा मेरीये....

"तू अगर कालपाउ है तो तू मुझसे लड़ने के लिए आ जा। अगर खान का पत्थर है तो मुझसे लड़ने आ जा। शाठी का खेल पाशी का देवता है। मैं तो पाशी के खून का भूखा हूं। खून के भूखे की गाली न देना। यदि लहू का भूखा है तो तू अपने परिवार को खा ले। धार के उपर से हाका (आवाज़) न लगा। जुबड़ (मैदान) में लड़ने के लिए आ जा। सराहां का विजट देवता।" कालपोऊ ग्राम का वर्तमान नाम लुधियाना है। यह हाका अन्धेरी ग्राम वालों की ओर से लुधियाना वालों के लिए है। लुधियाना वाले अन्धेरी वालों को दी जाने वाली हाका में कालपोऊ के स्थान पर "अन्दराल" शब्द का उच्चारण करते हैं।

दलों का मिलन

ज्यों-ज्यों शाठी दल पाशी कबीले के गांव के निकट पहुंचता है, ढोल नगारा, रणसिंघा, तुरी, करनाल की फुंकार, योद्धाओं की ललकार, नर्तकों की तलवार, प्रतिद्वन्द्वियों की पुकार, बन्दुकों की हुंकार चरमसीमा तक पहुंचती है, और शाठी कबीले अपनी शक्ति का प्रदर्शन पूरे जोरों से करता है। इधर पाशी के लोग भी उतनी ही शक्ति, उतने ही साहस, उतने ही दलबल के साथ मेहमान के स्वागत के लिए तैयार हो जाते है। पहले ही मिलन में शक्ति-प्रदर्शन जोर पकड़ता है। पाशी के दल वाले मैदान के एक कोने में वाद्ययन्त्रों की रौद्र ताल में पंक्ति बांध कर खड़े हो जाते हैं और चक्रव्युह का निर्माण करके शाठों का मार्ग रोकते है। ढोल, नगारे, तुरी, दमामे इस क्षण रणभेरी बजा कर वातावरण को अत्यन्त संघर्षमय बना देते हैं। नगारों, ढोलों पर पड़ रही टंकार मुर्दे को जगा देती है। दोनों ओर फरसे, डंडे, डांगरे, गंडासे, तलवारें, धनुष-बाण, आकाश में नाच रहे होते हैं। जिधर नज़र उठाओं सागर उमड़ रहा होता है। दोनों दलों के योद्धा-कलाकार अत्यन्त उत्तेजना, उद्वेग और आवेश में नाचते-कूदते हुए एक-दूसरे के निकट बढ़ते हैं। निर्धारित समय पर दोनों दल एक-दूसरे से टकराते हैं। पाशी दल को अपनी व्यूह-रचना की सुरक्षा करनी होती है और शाठी दल को उसे तोड़कर मैदान में पदार्पण करना होता है। एक के लिए व्यूह की रक्षा करना बड़ी प्रतिष्ठा का प्रश्न होता है तथा दूसरे के लिए उसे तोड़ना बड़ा गौरव-गान है।

ललकार

ठोडा के दल नाचते, गाते, उछलते, कुदते, वाद्य-यन्त्रों के साथ जुबड़ी में प्रवेश करता है। जोर-जोर से युद्ध के लिए दूसरे दल को ललकारता है और मंच के दूसरी ओर युद्ध की तैयारी के लिए जुबड़ी को खाली करता है। उसके बाद दूसरा दल यही प्रक्रिया अपनाता हुआ अगले अभिनय की तैयारियां आरम्भ करता है। मेज़बान खूंद को शांति व सुरक्षा बनाए रखने के प्रयत्न करने होते हैं, लेकिन युद्ध-नाट्य के लिए आमंत्रित दोनों प्रतिद्वन्द्वी खूंदों पर किसी प्राकर प्रतिबन्ध नहीं लगाया जा सकता। दर्शक और विशेष रूप से स्त्रियां रंग-बिरंगे पारम्परिक वस्त्राभूषण में सुसज्जित मंच-स्थल के किनारे पर चारों ओर विशेषतः उपरी तलहटी की ओर तमाशा देखने बैठ जाती हैं।

उधर ठोडा के कलाकार-योद्धा ललकार भरते हुए मैदान में उतरते हैं और उनके चेहरे तमतमा रहे होते हैं। उनके एक हाथ में शरी और दूसरे में धणु और वे दो-दो की जोड़ी में होते हैं- एक योद्धा शाठी का और उसी के मुकाबले का कलाकार पाशी दल का। एक ने ललकार भी है–

"अट्टे मेरेया ठोडेया" (धन्य हो, मेरे ठोडे) तभी दूसरे का उत्तर मिलता है-

"गुरू, पूजा मेरेया तेरो जुबड़ी दा" (इस मैदान में

तेरा गुरू पहुंच गया है) और प्रत्युत्तर

"उभे लागले लोहू रे गारे" (उपर लगेंगे खून के अम्बार) प्रतिद्वन्द्वी अपने साथी को शीघ्र तैयार होने के लिए कहता है-

शीगु लाई थोई पाषड़ा, मूंखे सुथिणों
थोड़े मालबे...हो...हो...हो
जे रूआ जा डौरी,
ते काटी जुबड़ी रो शौरी ....हो...हो

अर्थात् "हे पाशी तू जल्दी से सुथिणो (पाजामा) पहन ले और मेरे साथ ठोडा खेलने के लिए तैयार हो जा। यदि तु डरता है तो अपना तीर मैदान में फेंक दे। जोड़ीदार (साथी) इधर आ और मुझसे ठोडा-मल्ल में मुकाबला कर। साथी! हम देवता विज़ट के चरणों की सेवा में उपस्थित हैं। आओ! मेरे साथ ठोडा-मल्ल करने।"

यदि ललकार करने वाला पक्ष पाशी हो तो वह पहल पंक्तिइस प्रकार कहेगा–

शीगु लाई थोई शाठड़ा मूंखे सुथिणों
थौड़े मालवे के...हा... ।

अर्थात पाशी लोग पाशड़ा के स्थान पर शाठड़ा प्रयोग करते हैं। शेष बोल एक समान है। खषिया राजपूतों को अपनी स्वाधीनता और स्वतन्त्रता पर अभिमान है। वे किसी के अधीन नहीं है। वे न किसी राजा के अधीन है, न ठाकुर या टिक्का (राजा का बेटा) के अधीन रहते हैं। यह बात ठोडे की ललकार से स्पष्ट होती है–

बिना टिक्के-ठाकुरे मजगांव गौढ़ी रा खौशिया ।
शिगड़े आओ माण्छो चौउ गभरू चौउ पटराले
कौउड़ देखदेकू हो...हो...

(बिना टिक्के-ठाकुर का है मजगांव गढ़ का खशिया राजपूत। शीघ्र आओ मनुष्यों (माण्छो) चारों तरफ से चार-पट्टाके कउड़ देखने)

"शीगा बामोए मेरे औंदौरेया लीपडू आ" (शीघ्र तैयार हो जाओ मेरे मुकाबले वाले योद्धा)।

तब एक-दूसरे का नाम लेकर, या ताने में घटिया नाम लेकर अनेक तरह से पुकार होती है–

"शीगा बामोए मेरेया दिलेरामा" (मेरे दिलेराम साथी शीघ्र तैयार हो जाओ मेरे मुकाबले वाले योद्धा)।

"मेरे धा शुणे मौस्त राम ठोडै खेलने रै" (हे मस्तराम ठोडे खेलने के लिए मेरी ललकार सुन)

सारा वातावरण अंगारे उगलने लगता है। अपने को शेर दूसरे को गीदड़ कहा जाता है। अपने दादा-परदादे की दूहाई दी जाती है। अपने-अपको किसी दलेर वीर, शाठे की सन्तान बताया जाता है। पाशे के पहले हुए कुशल तीर-अन्दाज़ का नाम लिया जाता है। दर्शकों में से अपनी प्रेमिका, अपने मित्र या रिश्तेदार को ठोडा मारने पर सावधान रहने के लिए पुकारा जाता है–

उबी चोटे आखाही मेरीए झूरीय (मेरी प्रेमिका जागो अर्थात् इस और ध्यान दो)

"उबे बीउजे मेरीए बौउए (हे मां! ज़रा जाग जा)

उबे बीउजौ मेरेया सौजणा (हे मित्र! जरा जाग कर देख)

कलाकारों के शरीर के उपर के भाग का लिवास साधारण होता है। परन्तु इनका पाजामा विशेष आकार-प्रकार का होता है। यह चूड़ीदार सूथण (पाजामा) है जो प्रमुखतः उन का या अब मलेशिया अथवा जीन का भी होता है। इसकी अनेक तहें होती हैं। कहीं-कहीं यह छः से आठ तही-पट्टी की तंग सलवार सी होती है। पांव में विशेष प्रकार के मोटे जूते होते है। जो स्थानीय घास "शैल" के बनते है। अब चमड़े के मोटे जूते, बूट या हण्टरशू भी पहने जाने लगे हैं।

उपर्युक्त रूप से ललकार के बाद शाठी और पाषी के लोग अपनी सफलता के लिए अपने इष्टदेव का आह्मन और जय-जय-कार करते हैं। दोनों कलाकार अपने-अपने देवी-देवता की स्तुति करते हुए जोर-जोर से पुकारते हैं-

"शीगे टूलके मेरीए शठ बाहीए मेरी जुबड़ी दे" अर्थात, हे साठ भुजाओं वाली माता दुर्गा! शीघ्र ही मेरे

इस रणांगण में पहुंच और मुझे विजय दिला।

दूसरा आह्मन करता है–

"शीगे आये मेरीए कालिकीये-शाठी री थाती दी" अर्थात् शाठी की रक्षक मेरी काली माता शीघ्र आओ।

एक -दूसरे को पुनः ललकारते हुए कहते हैं-

"देउ शिरगुल री जुबड़ी दौ पूजा, और लोहूरा भूखा खौशिया" अर्थात् खून का प्यासा खशिया (खश) श्रीगुल देवता के मैदान से पहुंचा है। "ठडैयरी रा भूखा, हउंजी झमक लागी हो-हो-हो-" (मैं ठोडा का भूखा हूं) मै। खेल के लिए तरस रहा हुं।

"मूएं न मेरेया चौउं बागणीरा कथरा छूड़ छाड़ों।। तू ओ मेरेया दूई बागणी रो" अर्थात, मैंने चार पैरों वाला कस्तूरा भी नहीं छोड़ा है, तुझ दो पैर वाले को कैसे छोडूगां।

द्वन्द्व-युद्ध

वाद्य-यन्त्रों पर विशेष ताल में जिसे ठडेयर ताल कहते हैं, छाती दहलाने वाला बाजा बजता हैं- धींग ता, धींगाता, धींगाता, धींग। दोनों कलाकार एक-दूसरे से दस से बारह मीटर दूर खड़े होते हैं और प्रत्येक प्रतिद्वन्द्वी अपने दूसरे प्रतिपक्षी को पहले शरी (तीर) चलाने के लिए कहता है। धारणा है कि पहले जो तीर चलाएगा वह कमजोर कहलाएगा। इसी के निर्णय में संघर्ष रहता है। जहां देर से प्रतिस्पर्धा चल रही हो, वहां पिछली बार हारा हुआ पहले तीर चलाता है। या उनमें बारी-बारी से पहले तीर चलाने की प्रथा चली होती वाण चलाने के भी स्पष्ट नियम हैं। तीर केवल घुटनों से नीचे और टखने से उपर टांग पर लगाना चाहिए। पिंडली इसका प्रमुख निशान होता है। एक कलाकार सामने खड़ा होकर वाद्यों के संगीत में नाचना आरम्भ करता है। समय आने पर टांगों को द्रुत गति से इधर-उधर हिलाता है जिसे छुलना अर्थात् उछलना कहते हैं। यही शारीरिक स्फूर्ति और सक्रियता उसके बचाव का साधन हैं, अन्यथा वह निहत्था होकर प्रतिद्वन्द्वी के आक्रमण का सामना करता है। दूसरा योद्धा धणु में शरी-ठोडा चढ़ा कर बायां जानू धरती से लगाए तीरासन में बैठ कर धणु को कानों तक खींच कर घुटने और टखने के बीच टांग पर बाण-प्रहार करता है। यह क्रम दोनों खिलाड़ी क्रमशः दोहराते हैं। यदि शरी ठीक निशाने पर लगे, लक्ष्य की पूर्ति हो जाए, तो कलाकार सफलता में धणु और शरी या डांगरा (कुल्हाड़ा) के साथ उछल-उछल कर नाचने लगता है। वास्तविक विजय तब होती हैं जब लहू का धब्बा सूथण (पाजामें) से बाहर दिखाई दे। विजय की खूशी में सारे लोक झूम उठते हैं और ठोडा के दोनों दल अपने स्थान की ओर प्रस्थान करते है। इस प्रकार इस प्रसिद्ध लोकनाट्य के मंचन का समापन होता है।

निष्कर्ष : हिमाचल एक पहाड़ी प्रदेश होने के कारण अपनी प्राकृतिक सुन्दरता के लिए प्रसिद्ध है। प्रदेश की अधिकांश ऊँची चोटियाँ वर्ष भर हिमाच्छादित रहती हैं तथा इस प्रकार से श्वेत लगती हैं मानो पूर्णमाशी का चाँद हो। लेकिन मैदानों में इस प्रकार की प्राकृतिक सुन्दरता कम पाई जाती है। जिस प्रकार पहाड़ों तथा मैदानों की प्राकृतिक सुन्दरता में कमी पाई जाती है, ठीक उसी प्रकार यहाँ पर मनाए जाने वाले त्यौहार और मेलों में भी एकरूपता नहीं है। मैदानी इलाकों में जहाँ लोगों के पास रास-लीलाओं को प्रदर्शित करने के लिए रास-मण्डलियाँ हैं, वहीं पहाड़ी क्षेत्रों में लोकनाट्य को प्रस्तुत करने के लिए नाट्य-मण्डलियाँ आज भी मौजूद हैं। प्राचीन समय में जब लोगों के पास जनसंचार के तकनीकि तथा इलैक्ट्रिक माध्यम उपलब्ध नहीं थे तो उनके पास मनोरंजन के पारम्परिक साधन ही उपलब्ध थे। धीरे-धीरे मैदानी तथा शहरी क्षेत्रों में टेलीविजन के माध्यम से लोगों का मनोरंजन होता रहा, परन्तु पहाड़ी क्षेत्र इसकी सीमा से बाहर रहे। इसलिए पहाड़ी क्षेत्रों में लोगों का मनोरंजन लोकगीत, लोकगाथा, लोकनाट्य, लोकनृत्य एवं लोकसंगीत से होता रहा है, जिसका प्रचलन आज भी ग्राम्य जीवन में ही नहीं, अपितु शहरों में भी देखने को मिलता है। हमारी इस प्राचीन सांस्कृतिक धरोहर में आज अवश्य थोड़ा बहुत परिवर्तन हुआ, परन्तु पारम्परिक उत्सवों में इन सभी

विधाओं को प्रस्तुत करते हुए आज भी देखा जा सकता है।

सहायक ग्रंथ

1. गौतम शर्मा व्यथित : हिमाचल प्रदेश : लोकसंस्कृति तथा साहित्य (नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया, ग्रीन पार्क, नई दिल्ली)। 2. केशव आनन्द, हिमाचल का लोकसंगीत (संगीत नाटक अकादमी, रविन्द्र भवन, फिरोजशाह रोड, नई दिल्ली)। 3. एम. आर. ठाकुर, हिमालय के लोकनाट्य और लोकानुरंजन (दिल्लीः हिमाचल पुस्तक भण्डार) पृ० 12-13। 4. हरिराम जस्टा, पर्वतों की गूंज दिल्ली : हिमाचल पुस्तक भण्डार, गांधी नगर। 5. ओम चन्द हाण्डा, पश्चिमी हिमालय की लोक कलाएं, नई दिल्लीः इण्डस पब्लिशिंग कम्पन्नी। 6. राहुल सांस्कृत्यान, हिमाचल : एक सांस्कृतिक यात्रा, नयी दिल्लीः वाणी प्रकाशन 21ए. दरियागंज। 7. हरिराम जस्टा, पर्वतों की गूंज, दिल्ली : हिमाचल पुस्तक भण्डार, गांधी नगर। 8. जया चौहान, पब्बर इतिहास एवं लोक संस्कृति, दिल्ली : सुरेन्द्र कुमार एण्ड सन्ज विश्वासनगर, शाहदरा-0110032। 9. एम. आर. ठाकुर, पहाड़ी संस्कृति मंजूशा, रिलायेन्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली। 10. प्रेम पखरोली, हिमाचल का जन-जीवन एवं आस्थाएं, हि. प्र. यशपाल साहित्य परिषद, नादौन जिला हमीरपुर। 11. अमर सिंह रणपतिया, हिमाचल इतिहास और संस्कृति के अंश, दिल्ली : सन्मार्ग प्रकाशन। 11. गौतम शर्मा, हिमाचल प्रदेश : लोक संस्कृति और साहित्य, नयी दिल्ली : नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया।

हिन्दी विभाग
हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय
समरहिल शिमला-5
मोबाइल : 9418088848
ई-मेल : bhawanisuman@rediffmail.com

सागर में डुबकी लगाइये

जीवन में पाना है तो डुबकी मारनी पड़ेगी। बिना गोताखोर बने, डुबकी मारे बिना कुछ हाथ लगता नहीं। डुबकी मारी जाती है, सागर में डूबने के लिए नहीं। उसके तल से मोती पाने के लिए। जो मर जीवा है, गोताखोर है, वही जीवन सागर में डूबकर मुक्ति-मुक्ता प्राप्त करता है।

सागर विशाल है, गहरा है, उससे डरते हैं, क्योंकि हमें सुरक्षा चाहिए, थोड़ी-सी ऊंची दीवारें, बंद झरोखे, ऐसी ही घुटन में हम सुरक्षा का अनुभव करते हैं।

तभी तो हम कुएं में डुबकी लगाते हैं- लगाइए। वहां के तल का पता है– डूब मरने का खतरा नहीं- पर, वहां मिलेगा क्या? टूटी बाल्टियां, सड़े हुए रस्से, फूटे लोटे, कचरा व कंकड़ा।

प्रायः हम किनारे पर खड़े तमाशा देखते हैं- जो तमाशा देखते हैं वे जीवन की वास्तविकता से असलियत से वंचित रह जाते हैं। जीवन सागर है- इसमें डूबने वाला ही पार होता है।

महरुमे हकीकत है साहिल के तमाशाई।
हम डूबके समझे हैं, दरियाओं की गहराई।।

जो किनारे पर खड़ा रहा- वह डूबा जो डूबा, वही पार हुआ। जीवन का यही उल्टा गणित है।

(महरुमे - वंचिता साहिल - किनारा)

- श्री अक्षयचन्द शर्मा

साहित्य : वर्ग विभाजन पर आधारित

साहित्य अवश्य अपने युग के वर्ग विभाजन पर आधारित होता है और उस समय के वर्गों की सोच एवं विमर्श का प्रतिनिधित्व करता है। सन् 712 से 1313 ई. तक राजाओं की वीरता पर अतिश्योक्तिपूर्ण रासो लिखे गये जैसे पृथ्वीराज रासो और हमीर रासो आदि।

सन् 1343 से 1643 ई. में मुगलों का राज्यकाल था। उस समय जन संघर्ष युग का समापन हो चुका था। इस निराशाबाजी युग में भक्ति साहित्य की रचना की गई। तुलसीदास, सूरदास, कबीर, जायसी, रैदास और मीरा बाई आदि प्रमुख भक्तिकाल के कवि थे। वर्गों का बंटवारा आर्थिक आधार पर था, पर धर्म पर आघातों के कारण धार्मिक भूमिका उभरकर आ गई थी। उस समय जन स्तर पर साम्प्रदायिक रूप नहीं लिया पर सत्ता एवं शासन आधार पर साम्प्रदायिक प्रभाव था जो टैक्सों और व्यवहार रूप में उभरकर आया था। अरबी से प्रभावित उर्दू भाषा का भी राजनयिक कार्यों में उपयोग होता था। इस तरह रासो युग, भूषण युग, भारतेन्दु युग, यथार्थवाद युग, छायावादी युग और प्रयोगवादी युग आये और समय परिवर्तन के साथ विदाई ले ली। प्रत्येक युग की सत्ता व्यवस्थाओं समाज को वर्गों में बांटती है और उसके सामाजिक प्रभाव से प्रभावित होकर साहित्य की रचना हुई।

ब्रिटिश काल में स्वतंत्रता को वर्गों के साहित्य पर स्थाई प्रभाव डाला जो भारतेन्दु युग के रूप में उभरकर आया। मैथिलीशरण गुप्त आदि उसी समय की उपज हैं।

ब्रिटिश काल में ही पूंजीवाद का भारत में प्रादुर्भाव हो गया था। स्वतंत्रता के पश्चात् पूंजीवाद ने गति ली। पूंजीवादी व्यवस्था के वर्ग विभाजन ने छायावाद, रहस्यवाद, प्रकृतिवाद, प्रयोगवाद आदि कालों को जन्म दिया।

आधुनिक काल में न तो जन साहित्य की रचना हो रही है और न यथार्थवाद उभर कर आ रहा है। इस काल का साहित्य सत्ताधारियों के पारितोषकों से प्रभावित है। राजनीति में भी जन-आन्दोलन दिखाई नहीं दे रहे हैं। अतः आन्दोलन का रूप भी उभर कर नहीं आ रहा है। स्थिर और थके हुए समाज में सुविधावाद का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। अतः जीवन के सर्वसुख साधकों को साहित्यकार भोगना चाहता है। इस भोग प्रवृत्ति ने उसको जनता से अलग-अलग कर दिया है। उसी कारण आज का आधुनिक साहित्य जन समाज से अलग होकर फ्रस्ट्रेशन का प्रतिनिधित्व कर रहा है। आज के साहित्यिक कृतित्व के लिए जनता में योग नहीं है।

आज की निराशा की स्थिति में साहित्यकारों को नेतृत्व संभालना चाहिए। राजनैतिक नेतृत्व के अभाव में अब नेतृत्व के निर्माण में अग्रगामी का निर्वाह करना चाहिए।

जन-सम्पर्क के लिए गीतों और संगीत का सहारा लेना चाहिए। रवीन्द्रनाथ ठाकुर आज तक बंगाल में इसलिए लोकप्रिय हैं कि उन्होंने रवीन्द्र संगीत बंगाल को दिया। तुलसीदास और सूरदास की लोकप्रियता का कारण उनके पदों की गेयता है। कन्हैयालाल सेठिया 'धरती धोरां री' और अन्य गीत लिखकर जनप्रिय कवि हो गये। हरीश भादाणी की लोकप्रियता का कारण उनके जन-गीत हैं। आज राजनैतिक और सामाजिक निराशा की स्थिति में लोगों में जान फूंकने के लिए गीतों की रचना करना आवश्यक है।

आधुनिक हिन्दीकाल में एक भी ऐसा कवि नहीं है जिसको जन कवि के रूप में रूपायित किया जा सके। मुश्किल यह है कि आज कवि जन समूह से हटकर अपने को गौरवान्वित समझता है। आज के साहित्यकारों के पास न तो भाषा है और न सामग्री। लगता है आज का साहित्यकार मशीन बन गया है। ऐसा उत्पाद पैदा करता है जिसका कोई खरीददार नहीं है। ऐसी भाषा का प्रयोग करता है कि जन साधारण के लिए समझना तो कल्पना के बाहर है।

आज का कवि एवं अन्य साहित्यकार बाजार का मजाक उड़ाते हैं? उनका कथन है कि बाजार घटिया रचनाओं के लिए है। लेकिन वे इस स्थिति को समझने की चेष्टा नहीं करते कि अच्छे रचनाकार अगर जन-मानस को खुराक नहीं देंगे तो फिर उसकी जगह घटिया सामग्री को ही स्थान मिलेगा। क्योंकि पेट खाली नहीं रह सकता है उसे समय पर खाना चाहिए।

इतिहास से भी नये साहित्यकारों को सबक लेना चाहिए। इतिहास साक्षी है कि गीतों के रचनाकार जनजीवन में जीवित रहते हैं। लोकगीत अनन्त काल तक क्यों जीवित रहते हैं? क्योंकि वे गेय होते हैं और लोगों को अपील करते हैं।

अगर आज कवि रोटी, भ्रष्टाचार और भ्रष्ट राजनीतिज्ञों पर कविता और गीतों की रचना करेंगे तो आज के निराश युग को उनकी एक सशक्त देन होगी। साथ-साथ नये सूरत की भी कहानी कहेंगे या गीत गायेंगे तो समाज और राजनीति में आशा का संचार होगा। लोग नये जीवन के निर्माण हेतु संघर्ष करने के लिए लाभबद्ध होकर लड़ाई लड़ने के लिए तत्पर हो जायेंगे। विश्वास है कि ऐसे साहित्यकारों का युग आयेगा जो कुम्भकर्णी निन्द्रा में साये समाज को जाग्रत करेगा।

प्यार और प्रेम शब्द तो साहित्यकारों के लिये भूतकाल हो गया है। जनजीवन के लिए ये शब्द जीवनदान हैं। इनका प्रयोग कैसे करना चाहिए यह तो रचनाकार ही तय करेगा?

आलोचना साहित्य का पथ प्रशस्त करती है। कोई भी साहित्यकार या अन्य जीवन से सम्बन्धित मानव पूर्ण नहीं होता है। उसमें विशेषता होती है तो कमजोर भी होती है। अतः सामयिक, तुलनात्मक और संतुलित आलोचना होनी चाहिए। जहां आप विशेष आलेख या पुस्तक या उपन्यास या काव्य और कहानी की गुणवत्ता का उल्लेख करते हैं तो उसके साथ-साथ उनके ठहराव और भूलों की आलोचना भी होनी चाहिए। चारणों की तरह प्रशंसा करना साहित्य को गुमराह करना होगा।

उदाहरण के तौर पर प्रेमचन्द महान हैं तो अपने समय की गांधीवादी राजनीति के सूत्रों से बंधे हुए हैं। अगर किसी एक स्थान पर किसान और सामन्त का मित्रतापूर्ण हल न दिखाकर किसान को कर्म भरोसे छोड़ देते हैं तो वह भी कोई सराहना के लायक नहीं हुआ। नागार्जुन को ले लीजिये। वे कहीं वाम पंथ की पैरवी करते नजर आते हैं तो कहीं पर उसके विरोध में कमर कसकर खड़े हो जाते हैं। ऐसे व्यक्तित्व के खोखलेपन की आलोचना होनी चाहिए।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर बंगाल के जनजीवन में पैठ गये हैं। जबकि शरतचन्द्र के उपन्यास रवीन्द्रनाथ के उपन्यासों की तुलना में समाज के कुंठापन पर आघात करते नजर आते हैं। दूसरी बात है कि रवीन्द्र काव्य उपनिषदों से सामग्री एवं नेतृत्व ग्रहण करता है। शाश्वत सत्य की बात करना जनता को भ्रमित करना है। रवीन्द्र ने उपनिषदों के आधार पर शाश्वत सत्य की स्थापना की है। उस विचारधारा के विरूद्ध तीखा एवं तीव्र संघर्ष चलाना पड़ेगा न कि हम उनकी लोकप्रियता से भयभीत होकर चारण की तरह उनकी प्रशंसा की कक्षा में शामिल हो जायेंगे। आलोचना

अवश्य रचनात्मक होनी चाहिए। लेनिन ने जहां टालस्टाय की किसानों की यथार्थ जिन्दगी का उजास करने पर प्रशंसा की थी पर उसके साथ-साथ उनकी प्रतिक्रियावादी भूमिका की आलोचना भी की।

धनराज दफ्तरी, P 7/0, ब्लाक-A, लेक टाउन
कोलकाता – 700089, M. 9830775426

मोदकैर्माम् ताडय

जलक्रीड़ा का एक प्राचीन रोचक प्रसंग

जलक्रीड़ा आधुनिक जीवन का एक प्रमुख मनोरंजन है। प्रायः बड़े होटलों में, क्लबों में कृत्रिम सरोवर की तथा उसमें तैरने तथा कलि करने की उत्तम व्यवस्था रहती है। फिल्मों में हमें अनायास जलक्रीड़ा के दृश्य दिखायी पड़ जाते हैं जिनमें पारदर्शी बिकनी पहने युवक-युवतियाँ लकड़ी के तख्ते से छलांग लगाकर पानी में धम्म से कूदते, तैरते, थिरकते एवं किलोल करते हैं। जलक्रीड़ा प्राचीन भारत का भी एक प्रिय मनोविनोद था। जलक्रीड़ा की गणना उद्यान-क्रीड़ाओं के अन्तर्गत की जाती थी जिसका उल्लेख पालि, प्राकृत तथा संस्कृत साहित्य में उपलब्ध है। वन-विहार का आनन्द उठाने के लिए जाते थे और वहाँ खान-पान संगीत-नृत्य, मधुर वार्तालाप के साथ-साथ जलक्रीड़ा से भी अपना मनोविनोद करते थे।

जलक्रीड़ा के उल्लेख महाभारत, रामायण, विष्णु एवं मत्स्यपुराण, मेघदूत, कथासप्तशती आदि ग्रंथों में पाये गये हैं। साहित्य के साथ-साथ जलक्रीड़ा के कई दृश्यांकन हैं।

राजपरिवार एवं अन्य सम्पन्न परिवारों की नारियाँ प्रायः अपने महलों के उद्यान में ही वन-विहार का तथा उसी के सरोवर में जलक्रीड़ा का आनन्द उठाती थीं। भारतीय साहित्य और कला से स्पष्ट होता है कि प्राचीनकाल में जलक्रीड़ा प्रायः राजसी मनोविनोद था जिसमें रानियाँ अपने पति राजा के साथ सेविकाओं के सहयोग से आनन्द उठाती थीं।

राज भवन के भीतर ऐसी ही जलक्रीड़ा का एक मनोरंजक साक्ष्य नासक क्षेत्र में शासन करने वाले सातवाहन वंश के नरेश हाल के समय का है। सातवाहन वंश के सभी नरेश प्राकृति भाषा में कामकाज करते थे क्योंकि वे संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ थे और इसीलिए उस वंश के राजाओं के सभी अभिलेख प्राकृत भाषा में मिले हैं। राजा हाल स्वयं प्राकृत भाषा का विद्वान था। उसका ग्रंथ 'गाहासत्तसई' (गाथासप्तशती) अत्यन्त प्रसिद्ध प्राकृत ग्रंथ है। कथासरितसागर के अनुसार राजा हाल की छोटी रानी संस्कृत भाषा की विदुषी थी जिससे राजा बड़ा प्रेम करते थे। एक दिन राजा हाल अपनी रानियों और सेविकाओं के साथ अपने अन्तःपुर में बने प्रमोद वन के सरोवर में जलक्रीड़ा कर रहा था। सबसे अधिक सुन्दर और प्रिय होने के साथ-साथ गुणवती और विदुषी छोटी रानी के मुखपर फेंकना शुरु कर दिया। अन्य रानियों तथा सेविकाओं के समक्ष राजा का यह परिहास छोटी रानी को अच्छा नहीं लगा। सबके आगे वह राजा को मना करती भी तो कैसे? क्षण भर विचार करके रानी ने राजा से संस्कृत में कहा ताकि कोई समझ न सके – "मोदकैममि ताडय'। राजा हाल ने समझा रानी भी परीहास करना चाहती है तभी कह रही है कि 'मुझे लड्डुओं से मारो' (मोदकैःमाम् ताडय)। इसलिए राजा ने तत्काल एक सेविका को लड्डुओं से भरा थाल लाने का आदेश दिया। राजा का आदेश सुनकर छोटी रानी को हँसी आयी और क्रोध भी। उसने संस्कृत में ही राजा को झिड़का-

राजन्त्रवसरः कोऽत्र मोदकानां जलान्तरे।
उदकैःसिञ्च मात्वं मामित्युक्तंहि मयाखालु।।
सन्धि मात्रं न जानासि माशब्दौदकशब्दयोः।
न च प्रकरणं वेत्सि मूर्खस्त्वं कथमीदृशः।।

अर्थात् "हे राजन्! जल के भीतर यहाँ लड्डुओं का क्या तुक? मैंने कहा था कि आप मुझे जल से न भिगोएँ (मा उदकैः माम् ताडय)। आप 'मा' (मत) और 'उदक' (जल) शब्दों की सन्धि (मोदकैः) भी नहीं जानते हैं। और तो और, आपको अवसर का भी ध्यान नहीं। आप कितने मूर्ख हैं।

इस रोचक प्रसंग को तेलुगुभाषी चित्रकार के. राजय्या ने अपने एक चित्र में जीवन्त कर दिया है।

डॉ. ए. ए. श्रीवास्तव
1–बी, स्ट्रीट 24, सेक्टर, भिलाई–49009, छत्तीसगढ़

प्रतिस्वर

जनवरी-फरवरी, 2019 का 'वैचारिकी' का नया भाव-समृद्ध अंक संप्राप्त। तदर्थ सधन्यवाद आभार! प्रस्तुत अंक में भी भाषा, साहित्य एवं शिक्षा के स्तर पर हिन्दी की विदेशों में स्थिति विषयक प्रयास शोधपूर्ण आलेख हिन्दी-प्रेमियों के लिए आश्वस्तिकर हैं। काश अब भारत में भी हिन्दी को अपना राष्ट्रभाषा का चिरप्रतीक्षित स्थान मिल जाता। काश हम राष्ट्रीयता के एक सूत्र में बँध पाते!

'विचार' शीर्षक अपने संपादकीय में आपने दो मुद्दो पर पाठकों का ध्यानाकृष्ट किया है। 'कश्मीरी पंडित विस्थापन दिवस' के हवाले से आपने मुस्लिम अलगाववादियों द्वारा प्रताड़ित। विस्थापित हिन्दू कश्मीरी पंडितों का बड़ा ही मर्मान्तक व्यौरा प्रस्तुत किया है। उनके प्रति प्रशासन, हिन्दूत्ववादी संगठनों, नेताओं की बेरुखी भी असह्य है। पुनश्चः आपने एक अन्य मुद्दे-कुंभ मेले का भी तलस्पर्शी वर्णन किया है। कुंभ की व्युत्पत्ति, उसका मिथकीय विश्लेषण, उत्पत्ति परक इतिहास, कुंभ मेले का इतिहास आदि पर आपने पर्याप्त ज्ञानवर्द्धक व मननीय सामग्री प्रस्तुत की है। आप जिस भी विषय को उठाते हैं, उसकी तहतक पहुँच कर बड़ा ही विश्वसनीय प्रतिपादन करते हैं। आपका नैष्ठिक श्रम प्रणया है। श्री डॉ. सेराज खान बातिश का आलेख 'इस्लाम-मुसलमान : वर्तमान में' भी काबिलेगौर व काबिले तारीफ है। आपकी बेबाक साफगोई हृदयस्पर्शी है। बकौल आपके 'धार्मिक पुस्तकों, शरियतों के असंतुलित अध्यायों को अपने आप समय संशोधित कर देता है।' मुस्लिम समाज के लिए यह आलेख आँख खोलने वाला है। श्री वृजेन्द्र कुमार सिंघल का आलेख 'उलटबाँसी' भी शोधपरक है। डॉ. ए.एल. श्रीवास्तव, ललित शर्मा के आलेख भी पठनीय-मननीय हैं। इत्यलम। शुभमस्तु!

ओ. भगवानदास जैन-अहमदाबाद - 382445 (गुज.)

जनवरी-फरवरी - 19 की वैचारिकी मिली आभार। यह अंक भी इस दिशा में उपयोगी लगा। अहिंदी या हिंदीतर भाषी-प्रांतों में साहित्य भाषा की स्थिति पर आप एक आंदोलन रूप में सक्रिय हैं, सराहनीय लगा।

शुभकामनाएँ।

प्रो० फूलचन्द 'मानव', 239 दश्मेश एकक्लेव, ढाकोली, जीरकपुर (मोहाली-पंजाब)

'वैचारिकी' का जनवरी-फरवरी 2019 अंक मिला। वैचारिकी की सामग्री संकलन की अपनी पहचान है। इस बार विदेशों में हिन्दी के आलेखों के अतिरिक्त और महत्वपूर्ण सामग्री संकलित हुई है जिनमें से मैं 'इस्लाम-मुसलमान-वर्तमान में का उल्लेख चाहता हूँ। डॉ. सेराज खान बातिश के इस आलेख में बहुत जानकारी भरी है। आम आदमी की बात तो मैं नहीं कह सकता लेकिन आम लेखक के लिए बहुत जानकारी पूर्ण है।

भगवान अटलानी का सिंधी उपन्यासों वाला 'आर्टिकल' इन्हीं दिनों कई पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुका है। यह अच्छा नहीं लगा।

श्रीवास्तव जी अशांत, राजस्थानी, भवन,
31343 मालवीय नगर, जयपुर-302017

वैचारिकी का जनवरी-फरवरी 2019 अंक में 'विचार' अंतर्गत संपादकीय सोच के रूप में 'एक

विस्थापना दिवस' पर टिप्पणी पढ़ी तो मैं चकित और विस्मित हुआ। ताज्जुब इस बात पर हुई कि ब्रिटिश सत्ता से सत्ता पाकर लगभग साढ़े सात दशक तक हम सत्ता चलाने का ढ़ोंग ही रच रहे थे। विस्थापन की कहानी सत्ता की सत्ताविहीन अवस्था की अंतर्कथा बताती है। विस्थापन के 29 साल पूरे होने पर कश्मीरी पंडित विस्थापन दिवस मनाकर हक, अधिकार और संतति की सुरक्षा और भविष्य की भीख मांग रहे हैं, दूसरे बड़ी शर्म की बात इस मुल्क के लिए और कोई नहीं हो सकती है। देश की सर्वोच्च अदालत, संसद और कानून-व्यवस्था की सक्रियता तथा सजगता राजनीतिक दल के नेतृत्व और धर्म के ठेकेदारों के लिए ही केवल सबल और स्वच्छ होती है?

एक तरफ इसी धरती में जन्में विश्व-ज्ञानी स्वामी विवेकानन्द ने कहा था, "So long as millions live in poverty and ignorance I hold every one as traitor." तो दूसरी तरफ धार्मिक तथा जात-पात के अन्माद पर 1984 की सिखों की हत्या और कश्मीरी पंडितों पर खुले आम हमला तथा विस्थापन की नृशंस घटना होती है।

ब्रिटिश हुकूमत से देश को स्वाधीन करने का गौरव-गान और गरिमा-काँग्रेस क्या सुसुप्त थी कि अचेत थी, यह बहुत बड़ा सवाल है, जिसका जवाब सिखों और कश्मीरी पंडितों को देना बाकी है। किस परिस्थिति में कश्मीरी पंडितों के तीन लाख लोगों को अपना घर-बार छोड़कर अपने ही देश में विस्थापित होना पड़ा होगा, सोचने-समझने की बात है। दीनदुखी, दलित शोषित, सर्वहारा के पक्ष में ठोस दलीलें पेश करके राजनीति करने बाले साम्यवादी चिंतक क्या गुफा में घुसे थे? राष्ट्र-हित के पक्ष में लंबे-चौड़े मादर्श रखकर राजनीतिक रोटियां सेंकने वाली राजनीतिक पार्टियाँ क्यों निस्पक्ष नहीं हो सकीं? हिन्दुवादी संगठनों के कर्मठ विचारक भी क्या सत्ता-सुख का राजमार्ग गढ़ने में ही तल्लीन थे? वामपंथी विचार के दिग्गजों ने कश्मीरी पंडितों पर हुए अनाचार तथा अत्याचार पर आवाज क्यों बुलंद नहीं की? लगता है, सबके सब मुस्लिम अलगाववादी शक्ति के आगे संपूर्ण समर्पित हो गए थे।

कश्मीरी पंडितों के परिवारों को जिस प्रकार से यंत्रणा देकर विस्थापित किया गया, मर्दो को खदेड़कर बेटी-बहनों को सुख के लिए रखा गया, संपूर्ण विवरणों से विज्ञ मीडिया के धर्म निरपेक्ष पत्रकार भी अनभिज्ञ रहे, यही सबसे बड़ी दुःख और शर्म की बात है।

यह बहुत बड़ी विडम्बना की बात है कि जब 1990 में कश्मीरी पंडितों को प्रताड़ित किया जा रहा था, उनकी संपत्ति पर कब्जा किया जा रहा था, उनकी बहू-बेटियों पर सामूहिक अत्याचार हो रहे थे तो क्या सर्वोच्च अदालत तक के दरवाजे बंद थे, न्यायविद और वरिष्ठ प्रशासक नींद की गोली खाकर सोये पड़े थे या मुस्लिम अलगाववादी शक्ति के आगे झुकने के लिए विवश थे?

'19 जनवरी 1990 को सैकड़ों सशस्त्र मुस्लिम आतंकबादी सड़कों पर उतर आये और कश्मीर के अल्पसंख्यक हिन्दु समुदाय (कश्मीरी पंडितों) के विरुद्ध नारेबाजी करने लगे......' आपने सच की शुरुआती बातें लिखने की हिम्मत की; पर आगे क्या-क्या हुआ, अगर हम वर्णन करने लगेंगे तो सबकी रुह कांप जाएगी। तब राज्य सरकार महलावरों की तरफदार हो गई थी। इसलिए कोई भी कार्यवाही नहीं किया गयी। आज देशद्रोह के विरुद्ध के कानून हटाने के दृढ़ ले रहे राजनेतागण तब आतंकवादी हमलावरों के समर्थक ही थे।

धर्मनिरपेक्षता की दुहाई देकर गंगा-जमुनी तहजीब पर जोर देने वाले ज्ञानी-गुणी सामाजिक कार्य कर्त्ताओं के विवेक पर भी तब ताले लगे थे या वंशवादी सत्ता के विस्तार में विवेक का इस्तेमाल कर रहे थे। देश और तत्कालीन सत्ता के इतिहास में इससे बड़ा काला धब्बा और कुछ नहीं हो सकता।

कश्मीरी पंडितों के लिए शरणार्थी शिविर लगाकर सिर ऊँचा करने वाली धर्मनिरपेक्ष सरकारों की बदनीयति के और मिसाल नहीं हो सकते हैं। अफसोस की बात यह है कि आज भी कश्मीरी पंडितों के परिवार शिविरों में जीवन गुजार रहे हैं और हम कुछ नहीं कर पा रहे हैं। मुझे लगता है, आतंकवादी शक्ति देश के भीतर ज्यादा ताकतवर है, जिसके कारण प्रताड़ित परिवारों को आज भी न्याय नहीं मिल रहा है।

धर्मनिरपेक्षता की हद तो तब पार हुई जब 1984 में मारे गए सिखो की हत्या की घटना पर 'हुआ तो हुआ' कहकर पल्ला झाड़ने वाले शुभ चिंतक हैं जो सत्ता को कब्जा करने में संघर्षरत नेता को ज्ञान बाँटते आये हैं।

बिर्ख खडका डुवर्सेली, आमा खडकालय, दुर्गागढ़ी, प्रधान नगर, दार्जिलिंग-734003, मो. 9749052857

‘वैचारिकी’ का जनवरी-फरवरी 2019 का अंक प्राप्त हुआ। भगवान अटलानी का लेख ‘सिन्धी उपन्यास : एक निश्चित’ और गीता दुबे का लेख ‘बांग्ला में स्त्री आत्म-कथाएं’ भारत की सीमाओं और बांग्लादेश में लिखी गई आत्मकथाओं की भी चर्चा करते हैं। दोनों ही लेख अखण्ड भारत का सन्देश देते हैं। यों तो सभी लेखों में लेखकों की सांस्कृत प्रतिभा प्रभावित करती, उनके प्रेम को उजागर करती है और सभी अपने शीर्षक के विषय में पाठक को विस्तृत ज्ञान देते हैं–ज्योतिष इतिहास, आयुर्वेद आदि का समावेश करते हैं। डॉ. सेराज खान बातिश का लेख संक्षिप्त कलेवर में इस्लाम में इतिहास की सानी प्रस्तुत करते हुए, आज के इस्लाम की भारतीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति का यथार्थ रूप में सामने लाता है। यह लेख ध्वनित रूप में हमारे मस्तिष्क में हिन्दू धर्म की भी इसी प्रकार की स्थिति की अनुगूंज उपस्थित करता है और साथ ही भारत के सन्दर्भ में हमारे सामने यह प्रश्न भी उठाता है कि भारत का आज का मुसलमान क्या कट्टरता के साथ इस्लाम की किसी अन्तर्राष्ट्रीय कल्पना से जुड़ा है? जब पाकिस्तान का मुसलमान अफगानिस्तान के मुसलमान से और ईरान का मुसलमान ईराक के मुसलमान से राष्ट्रीयता के आधार पर लड़ सकता है तो भारत का मुसलमान इस्लाम खतरे में है के अन्तर्राष्ट्रीय नारे को छोड़कर भारत के लिए क्यों नहीं लड़ सकता।

1947 के भारतीय मुसलमान का श्रद्धा केन्द्र पाकिस्तान था परन्तु उसकी निष्ठा को पहला झटका बांग्लादेश बनने से लगा और उसके बाद आतंकवाद को लेकर पाकिस्तान की जो छीछालेदर हुई, उसके कारण आज भारतीय मुसलमान की मानसिक स्थिति 1947 के मुसलमान की स्थिति से भिन्न है। आज उसकी समझ में यह आ गया है कि उसके लिए भारत से सुरक्षित कोई देश नहीं है और उसे इसी देश की मिट्टी पर रहना है। उसकी निष्ठाएँ इस मिट्टी से जुड़ने लगी हैं। महात्मा गांधी से लेकर अबतक जो प्रयास हुए हैं उनके पहल हिन्दुओं की ओर से रही है। सामाजिक स्तर पर मुसलमानों की ओर से syncronisation का कोई प्रयास किया हो ऐसा उदाहरण नहीं मिलता। डॉ. बातिश का यह लेख यह संदेश देता है कि भारत के मुसलमान को भारत के प्रति अपनी निष्ठाओं को मजबूत करते हुए अपनी आर्थिक, सामाजिक और शैक्षणिक स्थितियों की चिन्ता करनी चाहिए। किसी भी प्रकार का कट्टरता से बचना चाहिए जो देश आज के स्थान पर इस्लाम की वैश्विक कल्पना से पैदा होती है। कुछ कुछ ऐसा हो भी रहा है परन्तु यह काम राजनैतिक स्तर पर संभव नहीं है। ऐसा सहज सामाजिक मिलन से ही हो सकता है जो एक धीमी प्रक्रिया अवश्य है परन्तु उसके सिवा कोई मार्ग भी नहीं है।

‘पाठक मंच’ में अपने ‘भवन’ पत्रिका से जो विषय संक्षिप्त में अनुवाद के रूप में प्रस्तुत किया है ‘विज्ञान प्रभाव–परमसत्ता की भूमिका’ वह अत्यन्त महत्वपूर्ण और मौलिक प्रश्न उठाता है। अच्छा हो आप एक अंक इसी विषय पर या महर्षि अरविन्द पर आयोजित करें। हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी के विषय में कृष्ण कुमार गोस्वामी की बेबाक टिप्पणियाँ सराहनीय हैं। यह विषय अब अपना अन्तिम रूप ले चुका है। उर्दू फले फूले परन्तु हिन्दी से न तो उसकी कोई समता हो सकती है और न कोई द्वेष। वह अपना शक्ति परीक्षा कर चुकी है।

डॉ. मथुरेश नन्दन कुलश्रेष्ठ (डी. लिट्.)
आनन्द-निकेतन, 75/70, टैगोर पथ, मानसरोवर,
जयपुर- 302 020, Mob. 8764295011

‘वैचारिकी’ के जनवरी-फरवरी 2019 के अंक में संपादकीय के माध्यम से आपने कश्मीर के विस्थापित पंडितों की व्यथा-कथा और उनके पुनर्वास का मुद्दा उठाकर राजनेताओं द्वारा जानूझकर दरी के नीचे दबायी गई कारुणिक मानवीय समस्या की ओर प्रशासन और समाज का ध्यान आकृष्ट करने का सराहनीय प्रयास किया है, एतदर्थ साधुवाद। कुंभ के बारे में विस्तृत जानकारी भी उपादेय है।

प्रसिद्ध सिन्धी लेखक और समीक्षक भगवान अटलानी ने दो दशकों के सिन्धी उपन्यासों की चर्चा करते हुए चलते चलते सिन्धी भाषा की लिपि के बारे में गंभीर एवं महत्वपूर्ण प्रश्न की ओर संकेत किया है। उनका कहना है कि केन्द्रीय साहित्य अकादमी द्वारा प्रतिवर्ष देश की चौबीस भाषाओं में रचित सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक रचनाओं पर जो पुरस्कार दिया जाता है उसमें केवल अरबी लिपि में छपी सिन्धी कृतियों को ही विचारार्थ स्वीकार किया जाता है। सर्व विदित है कि अरबी लिपि न

अब स्कूलों में पढ़ाई जाती है और न देश में आम प्रचलन में है। यहां तक कि पाकिस्तान से आये सिन्धी भी अरबी लिपि का प्रयोग नहीं करते, नई पीढ़ी को तो सिखाई ही नहीं जाती। फिर केन्द्रीय साहित्य अकादमी का यह अरबी मोह क्यों? इससे सिन्धी के नई पीढ़ी के लेखकों के साथ न्याय नहीं हो पाता। अकादमी को अपने पचास वर्ष पुराने नियमों को बदलना चाहिए और इसके लिए हिन्दी सेवको को भी आवाज उठानी चाहिए। यदि आवश्यक हो तो कुछ संशोधनों के साथ देवनागरी लिपि अरबी का स्थान लेने में पूर्णरूप से समर्थ है।

भारतीय ज्योतिष का वैज्ञानिक आधार प्रतिपादित करते हुए डॉ. रामेश्वर प्रसाद शर्मा ने ज्योतिष के तीनों अंगों–सिद्धान्त, संहिता और होरा का विशद विवेचन किया है। प्रायः यह माना जाता है कि भारती काल गणना के अनुसार चान्द्रमास 30 दिन का होता है जबकि पाश्चात्य पद्धति के अन्तर्गत कोई महीना 30 दिन का तो कोई 31 दिन का और फरवरी तो कभी 28 और कभी 29 दिन की होती है। पर यह जानकर सुखद आश्चर्य हुआ कि संक्रान्ति काल के अनुसार भारतीय गणना में भी मिथुन, कर्क, सिंह और कन्या की संक्रान्ति प्रत्येक 31 दिन की, वृष की 32 दिन की और मकर की संक्रान्ति 29 दिन की होती है जबकि अन्य प्रत्येक 30 दिन की होती हैं। हालांकि संक्रान्ति के हिसाब से भी वर्ष 365 दिन का ही होता है। इसी प्रकार यह भी कम लोगों को ज्ञात होगा कि भारतीय पंचांग के महीनों के नामों का आधार भी पूर्णतः वैज्ञानिक है। चान्द्रमासों के नाम उन नक्षत्रों के नाम पर रखे गये हैं, जिन पर चन्द्रमा पूर्णिमा के दिन रहता है। जैसे पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा चित्रा पर रहने से चैत्र, विशाखा पर रहने से वैसाख आदि। विद्वान लेखक ने भारतीय ज्योतिष के विषय में वह सारी जानकारी संक्षेप में दे दी है जो सामान्य पाइक के लिए रोचक है। सुधी लेखक ने विस्तृत ज्ञानसागर को गागर में समेटने का जो उपक्रम किया है वह अभिनन्दनीय है। किन्तु आश्चर्य है, संस्कृतज्ञ होते हुए भी विद्वान लेखक लेख में आरोग्यता शब्द का प्रयोग कर बैठे (पृष्ठ 50)। कहने की आवश्यकता नहीं कि आरोग्य शब्द स्वयं भाववाची संज्ञा है अतः उसे भाववाचक बनाने के लिए तो प्रत्यय की आवश्यकता नहीं होती।

पुरातत्व पंडित श्री ललित शर्मा ने राजस्थान के झालावाड़ जिले के प्रमुख नगर झालरापाटन में 'कदाचित् अबतक देश में प्राप्त एकमात्र विधातायुगल' की पाषाणफलक पर उत्कीर्ण प्रतिमाओं का परिचय प्रस्तुत किया है। विधाता की पत्नी को उन्होंने विधातृ या विमाता की संज्ञा दी है। वास्तव में विधातृ और विधाता दो भिन्न शब्द नहीं है। विधातृ से ही विधाता रूप निष्पन्न होता है। वास्तव में विधाता या सृष्टा ब्रह्माजी को ही माना जाता है। फिर विमाता तो सैतेली मा को कहा जाता है, जिसकी छवि लोक में समादरणीय नहीं है। कदाचित् लोकभाषा में प्रचलित 'बेमाता' से संगति बिठाने के उद्देश्य से ही यहां विमाता शब्द का प्रयोग किया गया है। पर लोकभाषा में भी बेमाता विधाता के अर्थ में ही प्रयुक्त होता है – 'बेमाता का लेख कुण टाल सकै'। श्री शर्मा इस विषय में ऋषि जैमिनी बरूआ से प्रभावित हुए लगते हैं, जिन्होंने सबसे पहले इन मूर्तियों को खोजकर इनकी चर्चा की थी। उन्होंने ही इस मूर्तियुगल को विधाता और विमाता नाम दिया था। विद्वान लेखक ने मूर्तियों का जिस प्रकार शब्दांकन किया है उससे उनका नर-नारी का भेद स्पष्ट नहीं होता। दोनो प्रतिमाओं के सिर पर साफा या पगडी है, दोनों ने कानों में कुंडल पहने हुए हैं, दोनों के बायें हाथ में कलम और दाहिने हाथ में कागज है, दोनो ने ही उत्तरीय धारण किया हुआ है। महारानी लक्ष्मीबाई को छोड़कर किसी भी भारतीय नारी या देवी का पगड़ी या साफे में चित्रांकन नहीं मिलता। अच्छा होता, लेख के साथ मूर्तियों का चित्र भी दे दिया जाता।

भगवान सहाय त्रिवेदी, 472, निर्माण नगर ए बी किंग्स रोड, जयपुर - 302019. e-mail- bstrivedi10@gmail.com

वैचारिकी के जनवरी-फरवरी 2019 के अंक में ही लेख विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं–विदुषी गीता दूबे का 'समय का जीवन्त दस्तावेज' और डॉ. सेराज खान बातिश का 'इस्लाम : मुसलमान वर्तमान में'। प्रथम लेख गहन अध्ययन का परिचायक होने से प्रशंसनीय है। वैसे दो-एक बातें इस प्रसंग में कहना चाहूँगा। मैत्रेयी देवी की पुस्तक 'न हन्यते' न तो उपन्यास है, न इसमें कोई कल्पना है। हाँ- यह आत्मकथा तो नहीं, स्मृति कथा या संस्मरण कहलाने योग्य है। जिन्होंने इसको पुरस्कृत किया उन्होंने रचयित्री

का नाम देखा, विषयवस्तु को नहीं। वास्तव में इसमें मैत्रेयी देवी ने अपने परलोकगत पिता पर कीचड़ उछाला है। इसे घटिया पुस्तकों में ही स्थान मिलना चाहिये।

जहाँ तक 'द्विखंडित' का प्रश्न है। मूल में यही नाम है, "उनके अपने देश में" ही नहीं यहाँ पश्चिम बंग में तत्कालीन वामपन्थी कहीं जानेवाली सुरक्षापरस्त सरकार ने उसे निषिद्ध किया था। प्रकाशक हाईकोर्ट गये तब निषेधाज्ञा उठी।

लेखिका वर्तनी के बारे में कुछ अनिश्चित, कुछ ढुलमुल सी लगती हैं। पृ० मा के स्तम्भ में पुस्तक का नाम होना चाहिए 'पद्मपावार दिन' और स्तम्भ 2 में रचियत्री का नाम मंजुश्री विश्वास। पृ० 37, स्तम्भ। में पुस्तक का नाम 'पागडण्डी' नहीं, 'पाकदण्डी' होगा जिसका अर्थ हिन्दी में पगडंडी होता है।

बांग्ला पुस्तकों के नाम उदाहरण के अनुसार हिन्दी में लिखें या जिस प्रकार वे बांग्ला में लिखे जाते हैं वैसे, यह एक बड़ा प्रश्न है। मैं समझता हूँ वे हिन्दी में वैसे ही लिखे जाने चाहिए जैसे बांग्ला में लिखे जाते हैं। कुछ थोड़े से अपवाद हैं जहाँ यह सम्भव नहीं। अतएव 'आमार जीवोन' (पृ० 34, स्तम्भ।) और 'आमार कोथा', 'आन्तो कथा', 'पूर्वोकथा' तथा 'छेलेरबेला दिन गुली', (सभी पृ० 35, स्तम्भ 2) के स्थान पर क्रमशः 'आमार जीवन', 'आमार कथा', 'आत्म कथा', 'पूर्वकथा' तथा 'छेलेबेलार दिन गुलि' ही वांछनीय है। अन्य ग्रन्थ - नामों की वर्तनी ठीक है।

डॉ० सेराज खान बातिश को युगानुकूल, विज्ञान सम्मत विचारों के लिए बधाई देना चाहूँगा। उनका यह कहना अक्षरशः सत्य है कि "इस्लाम नहीं, दुनिया का कोई भी धर्म अपने कठोर धार्मिक सिद्धान्तों पर चलते हुए इस युग में एक कदम भी आगे नहीं बढ़ा सकता?" उनकी यह सूचना कि इस्लाम अंगदान हराम है, पढ़कर याद आया कि कई वर्ष पूर्व उत्तरबंग मेडिकल कॉलेज से एक उराँव दम्पत्ति अपने बच्चे को मुचलका देकर छुड़ा ले गये क्योंकि चिकित्सक प्राण रक्षा के लिए उसे रक्त देना चाहते थे पर उसके धर्म में (वह जेहोवा'ज विटनेसेस नामक ईसाई समुदाय का था) रक्तदान हराम था। ऐसी जड़ता कब तक चलेगी? परिवार छोटा रखने के प्रश्न को धर्म से जोड़कर इसका विरोध करना एक दूसरी नासमझ भी है। जिससे मुसलमानों में शिक्षा, स्वास्थ्य आदि मामलों में पिछड़पन और गरीबी बहाल है। मुस्लिम समाज की भावना इसी में है बातिश साहब जैसे समस्टरों की संख्या बढ़े।

पाठक-मंच में प्रो० कृष्ण कुमार गोस्वामी के हिन्दु-उर्दू-हिन्दुस्तानी' विषयक विचारों से मैं पूर्णतः सहमत हूँ।

पृ० 91 स्तम्भ में ट्राट्स्की की पुस्तक का शुद्ध नाम है - The Revolution Betrayed.

डॉ० लक्ष्मी नारायण मित्तल के पत्र के सम्बन्ध में निवेदन है कि उत्तर प्रदेश और बिहार में "प्रदूषित राजनीति एवं गुटबन्दी" कोई नई बात नहीं। बिरादरीवाद शिक्षा के हर स्तर पर व्याप्त रहा है और इस युग के दिवालिया नेताओं की तो वही एक मात्र पूँजी है। मुझे याद है कि सन् 1950 और 1960 के दशकों तक स्कूलों-कॉलेजों के नामों में भी 'क्षत्रिय', 'कायस्थ', 'कान्यकुब्ज' आदि जातिवाचक शब्द जुड़े होते थे। जिनमें ऐसा कुछ नहीं था उनमें भी किसी एक बिरादरी का एकछत्र प्रभुत्व होता था और दूसरी बिरादरी के लोग उनमें कुछ समय के मेहमान हुआ करते थे। मेरे बड़े भाई को दो-दो स्कूल इसीलिए छोड़ने पड़े और अन्त में उन्होंने पश्चिम बंग में आकर रेलवे में नौकरी ली। मुझे भी कुछ ऐसे ही कारणों से उत्तर प्रदेश छोड़कर यहाँ आना पड़ा।

उपेन्द्रनाथ राय, ग्रामः डाक० मेटेली, जिला - जलपाईगुड़ी (प० बंग), पिन - 735223, मो० - 9775494574

जनवरी-फरवरी 2019 का वैचारिकी अंक प्राप्त हुआ जिसका मनोयोग से पूर्ववत् अध्ययन किया गया। भाई डॉ० सेराजखान वातिश का समीक्षात्मक प्रेरणाप्रद लेख इसमें पढ़ने को मिला। एक समाज विशेष के लिए उनकी दशा और दिशा की ओर ध्यान दिलाते हुये जो स्पष्ट शब्दों में टिप्पणी की गई है–प्रशंसनीय है। इसी प्रकार का हिन्दू समाज के लिए 'कुम्भ' के माध्यम से प्रेरणाप्रद 'विचार' नामक सम्पादकीय लिखा गया है। ऐसे विचारोत्तेजक आलेख दिग्भ्रमित समाज को सही मार्ग दिखा कर लोकमंगल की सृष्टि करने में समर्थ होते हैं। इस प्रकार के प्रेरणाप्रदाता भी पीर-पैगम्बर, सन्त-सुजनों से बढ़कर होते हैं। संस्कृत की एक सूक्ति है –

सद्यःफलति गांधर्वं, मासभेकं पुराणकम्।
वेदाः फलन्ति कालेषु, ज्योतिर्वेद्यो निरन्तरम्।।

ज्योतिष और वैद्यक (आयुर्वेद) सदैव फलप्रद होते हैं। अन्य शास्त्र केवल मनोविनोद के लिए होते हैं जबकि चिकित्सा विज्ञान और ज्योतिष दोनों दुःखों के निवारण के उपाय बतलाते हैं। ज्योतिष एवं चिकित्सा विज्ञान दोनों विषयों पर महत्वपूर्ण लेख इस अंक में पढ़ने को मिले हैं। ज्योतिष जहाँ अपने पाँच अंगों के द्वारा कष्ट निवारण के उपाय निर्देशित करता है वहाँ चिकित्साविज्ञान की भारतीय परम्परा (आयुर्वेद) अपने आठ अंगों के द्वारा स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा करता है और रोगियों के रोगों को दूर करने के उपाय प्रदर्शित करता है। मुख्य रूप से कायचिकित्सा नामक अंग विशेष पर लिखे गये चरक-संहिता ग्रन्थ की विशेषता डॉ० क्लार्क के शब्दों में इस प्रकार व्यक्त की गई है– 'यदि आप अपने रोगियों की चिकित्सा चरक के सिद्धान्तों के अनुसार करेंगे तो चिता बनाने अर्थात् अन्त्येष्टि कार्य में कमी आयेगी और संसार में रोगी मनुष्य बहुत कम देखने में आयेंगे'।

गोपीनाथ पारीक 'गोपेश', 21 रामेश्वरधाम मुरलीपुरा स्कीम, जयपुर 302039, मो० 9214881375

'वैचारिकी' का जन.फर. '19' अंक मिला। धन्यवाद। उसमें डॉ. सेराजखान साहब का लेख 'इस्लाम मुसलमानः वर्तमान में' देखा। उन्होंने प्राचीन और आर्वाचीन मुसलमानों में तुलनात्मक परिवर्तित/अपेक्षित अवधारणाओं का चित्रण प्रस्तुत किया है। उस लेख के समापन में पुस्तकों और शरीयत के असंतुलित अध्यायों को समय के द्वारा संशोधित होने का विश्वास व्यक्त किया है। प्रतीत होता है कि लेखक ने रुहानियत (अध्यात्म) की महत्ता के प्रति समग्र रुप से मौन रखा है। इस्लाम के पालन, प्रचार और प्रसार (धर्म परिवर्तन प्रक्रिया सहित) में रुहानियत की महत्ता को सूफियों के माध्यम से योगदान होता रहा है। भारतीय उपमहाद्वीप में हिंदू भी मुसलमान सूफी दरबारों में श्रद्धा पूर्वक जाते रहे हैं। इस्लाम के विश्व केन्द्र काबा (मक्का, सउदी अरब) में सदियों पहले महात्मा श्री गुरु नानकदेवजी के द्वारा यात्रा करने के उपरांत हिंदू-सिखों का प्रवेश आदिनांक वर्जित कर दिया गया है। ऐसा क्यों है? क्या इस प्रवेश प्रतिबंध को उठाकर मुक्त करने से इस्लाम में अपेक्षित परिवर्तनों को सुगम बनाने में सहायता नहीं मिलेगी? क्या इसके आकलन अध्ययन हेतु सुफीमत के इस्लाम में प्रवेश के कारणों को पुनः समय की तुला में तोला जाना चाहिए?

बीरेन्द्र नाथ भार्गव, 12 महावीर नगर, टोंक रोड, जयपुर, 302018

वैचारिकी माह जनवरी-फरवरी 2019 अंक कुछ ऐसी ही होती है कि उसे अद्योपांत पढ़ने की इच्छा होती है। प्रस्तुत वैचारिकी में आपके लेख विचार के अन्तर्गत कुंभ की जानकारी अत्यन्त रुचिकर तथा ज्ञानवर्धक लगी। इसके अलावा विभिन्न राष्ट्रों में हिन्दी की वर्तमान स्थिति के अलावा अन्य कुछ और भी महत्वपूर्ण लेख देखे। ज्योतिष, आयुर्वेद तथा मूर्तिकला सम्बन्धी लेखों के साथ मुक्ति बोध सम्बन्धी अन्य महत्वपूर्ण लेखों के बीच एक लेख "इस्लामः मुसलमानः वर्तमान में" काफी सुलझा हुआ और प्रशंसनीय प्रतीत हुआ। सरल भाषा में बहुत कुछ वह कह दिया है जो अपेक्षित है। साधुवाद।

इसी परिपेक्ष्य में विनम्र शब्दों में भी यदि ऐसी ही सरलता स्थापित हो सके तो एक सामान्य पाठक के लिए भी सरलता रहेगी और इसी के साथ संस्कृत मंत्र अथवा अन्य क्लिष्ट उदाहरणों को नीचे ही उनके भावार्थ भी यदि दे दिए जायं तो सोने में सुहागा हो सकेगा।

प्रतिस्वर में एक महत्वपूर्ण सुझाव भी देखा कि इस पत्रिका में कविताओं को भी यदि स्थान दिया जाय तो विस्तार की सम्भावनाएं बढ़ जाएंगी। मुझे यह सुझाव अच्छा लगा।

डॉ. प्रमोद 'पुष्कर', 91 चित्रगुप्त नगर भोपाल, (म.प्र.)

जनवरी-फरवरी 2019 के अंक में 'इस्लाम-मुसलमान वर्तमान में लेख व अन्य अंकों में भी मुसलमानों को लेकर लेख प्रगट हुए हैं।'

भारत में हम जिस समुदाय को मुसलमान कहते हैं, वह एक विविधवर्गीय समाज है। भारत में 584 ऐसे समुदाय हैं जिनका मज़हब इस्लाम है। ये समुदाय भारत में पूरे देश में फैले हैं और इनका रहन सहन, पहनावा, खानपान, बोली एक जैसी नहीं है। जीव वैज्ञानिक भाषायी और सांस्कृतिक परिदृश्य में ये समुदाय अपनी बनावट के अन्य

धर्मावलम्बियों के समान है। ये समुदाय पूरे देश में फैले हैं -- मैदानी भागों में, पठार क्षेत्रों में, समुद्री किनारों पर, अर्ध शुष्क क्षेत्रों में, रेगिस्तानी भागों में आदि। भाषायी दृष्टि से ये 52 भाषाएँ बोलते हैं। भारत में अरबी (Arabic) केवल एक समुदाय द्वारा बोली जाती है। उर्दू केवल 156 समुदायों द्वारा बोली जाती है और यहाँ भी लोग फारसी लिपि से बहुत परिचित नहीं हैं। बच्चे तो अब फर्राटेदार स्थानीय भाषा बोलते हैं। 53 समुदाय अभी भी वर्ण व्यवस्था में अपने पूर्वजों का स्मरण रखे हुए हैं। ग्यारह समुदाय जो इस्लाम धर्म को मानते हैं, पूर्णतः शाकाहारी हैं। सात समुदाय केवल मछली खाते हैं। नौ समुदाय केवल अण्डा खाते हैं। 5 समुदाय अदरक भी नहीं खाते। पाँच समुदाय प्याज भी नहीं खाते। चार समुदाय मसूर दाल भी नहीं खाते। प्रायः मुस्लिम स्त्रियाँ माँस नहीं खातीं। कई घरों में माँस पकाने का बर्तन अलग से होता है। अनेक मुस्लिम समुदाय गौमांस नहीं खाते। राजस्थान के कुल 44 मुसलमान समुदायों में 31 समुदाय गौमांस नहीं खाते।

व्यवसाय की दृष्टि से ये सभी प्रकार के काम करते हैं। बुनकर, राजगिरी, बढ़ईगिरी, सुनारी, टोकरी बनाना आदि। खाल निकालने का काम केवल 0.16% करते हैं। अनेक समुदायों में धर्मान्तरण से पूर्व के संस्कार आज भी मौजूद है। अनेक मुसलिम महिलाएँ चूड़ियाँ पहनती हैं, लौंग, विहुवा, मंगलसूत्र, बिन्दी, नथनी आदि से अनेक मुसलिम महिलाएँ अपने विवाहित होने की पहचान बतलाती हैं। अभी हाल तक मुजफ्फरनगर में (जहाँ मैं प्राचार्य रहा हूँ और वहाँ के सामाजिक जीवन का शास्त्रीय अध्ययन किया हैं) जाटों और मुसलमानों की एक जैसी परम्पराएँ हैं और सामाजिक रीति रिवाज भी एक जैसे हैं। दोनों में सगोत्र विवाह पर प्रतिबन्ध है। आँध्रप्रदेश के एक मुसलिम समुदाय, अरे कतिका में आज भी जीवन पर्यन्त होने वाले अनेक कर्मकाण्ड मौजूद हैं। ये कर्मकाण्ड गर्भाधान, जन्म, मृत्यु, रजस्वला होने व विवाह आदि से सम्बन्धित हैं। बच्चे के जन्म पर छठ का प्रावधान है और प्रसूता को हल्दी के पानी से नहलाया जाता है। अन्नप्राशन के समय एक ब्राह्म पुरोहित को बुलाया जाता है। इस समुदाय में विवाह के समय कुलदेवी भवानी का आह्वान किया जाता है। राजस्थान में मुसलिम समुदाय-कायमखानी, भटियारा, मेओ चूगर हिन्दू और मुस्लिम दोनों के रीति रिवाज मानते हैं। इसी प्रकार चीता, छीपी, नीलगर, भटियारा, मेरात आदि मुस्लिम समुदाय यद्यपि मुस्लिम धर्म को मानते हैं। परन्तु विवाह कुल के बाहर करते हैं और शादी और निकाह दोनों तरीकों की स्वीकृति है। उत्तराखण्ड के मुसलमान ठेठ गढ़वाली बोलते हैं और उनपर हनुमान जी का रूप भरता है। अनेक मुस्लिम समुदायों में मृत्यु पर सूतक के अपने तरीके हैं। बच्चे के जन्म पर छठ, सवा महीने पर उत्सव और बाल उतरवाने जैसे रीति रिवाज आज भी शेष हैं।

रसल और हीरालाल की प्रसिद्ध किताब "The Tribes and castes of central provinses" के खण्ड तीन में वर्णित है कि खोजा इस्लाम धर्म में परिवर्तित होने के बाद भी आज भी अपने पूर्व संस्कारों को मानते हैं। इस समुदाय के लड़के कानो का छेदन कराते हैं और सिर पर चोटी जैसे बाल छोड़ देते हैं। दाढ़ी रखने पर भी सख्ती नहीं हैं। विवाह, मृत्यु और चाँद के दिन (प्रतिपक्ष) को ये दान देते हैं। गुजरात के मुसलमान कच्छी या गुजराती बोलते हैं और गुजराती लिपि का ही प्रयोग करते हैं।

शिया, सुन्नी, अहमदिया, खोला आदि भेदों के अलावा भारत में मुसलमान अशरफ (श्रेष्ठी वर्ग) और अजलाक (कारीगर वर्ग) और अरजल (अपवित्र काम करने वाली बिरादरियाँ) में बंटें हैं। इन्हें क्रमशः हिन्दुओं के उच्च जाति (सवर्ण), ओ.बी.सी. और दलितों के समकक्ष कहा जा सकता है। इम्तिहाज अहमद ने अपनी किताब "The Ashraf and Aslaf dicotomy in Muslim social structure in India" में इस पर विस्तार से लिखा है। जरीना अहमद की किताब "Muslim customs in Uttar Pradesh 1962" में बतलाया गया है कि प्रायः यह धारणा है कि अशरफ बाहर से आये मुस्लमान हैं परन्तु भारत में भी बहुत से मुस्लिम समुदाय इस श्रेणी में आने के लिए अपने वंशज विदेशी बतलाते हैं। यथा, पूर्वी उत्तर प्रदेश के जुलाहे अपने को अन्सारी शेख कहते हैं और अपने पूर्वज में अबू अन्सार को बतलाते हैं जो पूज्य मोहम्मद साहब के साथी थे। इसी प्रकार कसाई अपने को क़ुरैशी शेख बतलाते हैं और अपने पूर्वजों में अबू बर्क सिद्दीकी को गिनाते हैं जो मोहम्मद साहब के ससुर के साथी थे। कुछ

समुदाय अपने को अशरफ श्रेणी में लाने के लिए अपनी स्त्रियों को पर्दे में रखते हैं, मस्ज़िद में जाकर नियमित नमाज़ अदा करते हैं और मक्का की यात्रा करके हाजी बनते हैं। इन्होंने अपने जातीय उपनाम भी बदल दिये हैं। भारत के उत्तरी कोंकण में आठवीं सदी में आये फारस से आये सुन्नी मुस्लमानों को 'नवायत' कहा जाता है। कोंकणी मुसलमानों में स्थानीय स्तर पर विवाह सम्बन्ध बनाये और अंग्रेजों के विपरीत भारतीय, भाषा, भूषा, भोजन, भवन, भजन आदि को अपनाया। ए. आर. कुलकर्णी ने अपनी किताब 'We Live Together' के अध्याय Social Relations in Medieval Maharastra में बतलाया है कि मध्यकालीन मुस्लिम सन्त शाह मुनि की मान्यता थी कि इस्लाम धर्म की उत्पत्ति हिन्दू देव विष्णु से हुई है। इसी प्रकार A.K. Priylkar "French Kavine Lihileli Marathi Prana" Mumbai 1965 के अनुसार सन् 1435 के आस पास बहमनी साम्राज्य के बादशाह अलाउद्दीन (द्वितीय) ने काज़ियो को इसलिए फटकारा कि वे उन हिन्दुओं की आलोचना करते थे जो गौ, अग्नि, जल, सूर्य, पृथ्वी और आकाश में ईश्वर का वास मानते हैं" "शिवाजी चरित्र' भारतीय इतिहास संशोधन मण्डल, पुणे खण्ड 6, अभिलेख 65" के अनुसार परिवार में यदि एक भाई ने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया तो भी वे संयुक्त परिवार में ही रहते रहे और एक दूसरे के विवाह व अन्य समारोहों में भाग लेते हैं।

भारतीय परिदृश्य में हिन्दू-मुसलमानों के रिश्तों को देखने का नज़रिया तथ्यों पर आधारित होना चाहिए। भारत में पिछड़े मुसलमान कुल मुस्लिम आवादी के 90% (नब्बे) हैं फिर भी उनकी सामाजिक स्थिति दयनीय हैं। केन्द्र व राज्यों में यद्यपि मुसलमान प्रतिनिधि हैं परन्तु पिछड़े मुसलमान न के बराबर हैं। पहली से लेकर चौदहवीं लोक सभा तक केवल पाँच पिछड़े मुसलमान सदन के सदस्य बन पाये थे।

वास्तव में भारत के धार्मिक सम्प्रदायिकतावादी यह नहीं समझते कि किसी धर्म-सम्प्रदाय में आस्था वितान्त व्यक्तिगत मामला है। विश्वभर के मुसलमान धार्मिक आस्था में एक हो सकते हैं, परन्तु अपनी जातीय पहचान में वे स्थानीय हैं। यह स्थानीयता ही प्रायः उनके सामाजिक और सांस्कृतिक सरोकारों को तय करती है। तभी तो बांग्लादेश का कथा नायक अपनी प्रेमिका से कहता है कि उन दोनों का सम्बन्ध जन्म जन्मान्तर का है। इस दृष्टि से भारतीय उपमहाद्वीप के मुसलमान अफ्रीका, अमरीका या यूरोप में मुसलमानों से भिन्न हैं।

डॉ. लक्ष्मी नारायण मित्तल, पूर्व प्राचार्य व ख्यातिप्राप्त समाजशास्त्री, एच/902, ओल्ड हाउसिंग बोर्ड कॉलोनी, मुरैना- 476001

सम्पादकीय 'विचार' (अंक 1/2019) में एक विस्थापन दिवस पढ़ा। आपने अत्यंत सटीक ढंग से शान्त कश्मीरी पंडितों की पीड़ा एवं सरकार द्वारा उपेक्षा को उजागर किया है। इनकी पीड़ा से किसी राजनीतिक पार्टी को भी सरोकार नहीं है। जो गोली चलाते हैं एवं पत्थर मारते हैं एवं उनके समर्थक, उनके हेतु सरकारी कोष (जनता द्वारा दिया गया टैक्स) खुला है। सरकार वाड्रा परिवार को भी सरकारी बंगला सहर्ष देती है, उनकी सुरक्षा पर भी खर्च करती है, जनता को इसका कोई औचित्य प्रतीत नहीं होता है।

कुम्भ की जो भी मान्यता हो, जनसाधारण के लिए इसका महत्व देश भर के संत/महात्माओं के दर्शन एवं वाणी लाभ है। कुम्भ में ग्रह-नक्षत्रों की विशेष स्थिति में स्नान करने से पुण्य प्राप्त होगा, यह भ्रान्ति पूर्ण है। मनुष्य शरीर में ही 'अमृत कलश' उपलब्ध है, जिसे पाने हेतु उच्चकोटि के समर्थ योगी गुरू की आवश्यकता होती है, मानव शरीर ब्रह्माण्ड का क्षुद्र स्वरूप भी है।

जितेन्द्र नाथ जौहरी, ई-234, सैक्टर-14, हिरणमगरी, उदयपुर-313002, मो० 8003188087

छपते छपते

वैचारिकी का हमारा यह अंक मुद्रण के आखिरी चरण में आकर लॉकडाउन में लॉक हो गया था। अब फिलहाल हम इसे ई-पत्रिका के रूप में ही जारी कर रहे हैं।

- प्रबंधक

स्वत्वाधिकारी भारतीय विद्या मन्दिर के लिए प्रकाशक-मुद्रक रामनिवास शर्मा, द्वारा कल्याणी प्रिंटर्स, अलखसागर रोड, बीकानेर के लिए कंप्यूटर-एन-मीडिया, 25ए, सी.आर. एवेन्यू, कोलकाता-72 में मुद्रित एवं भारतीय विद्या मन्दिर, रतन बिहारी जी का मन्दिर, बीकानेर से प्रकाशित। अध्यक्ष एवं प्रधान संपादक-डॉ. बिट्ठलदास मूंधड़ा।

आया वसंत, आया वसंत

- सोहनलाल द्विवेदी

आया वसंत आया वसंत
छाई जग में शोभा अनंत।

सरसों खेतों में उठी फूल
बौरें आमों में उठीं झूल
बेलों में फूले नये फूल

पल में पतझड़ का हुआ अंत
आया वसंत, आया वसंत।

लेकर सुगंध बह रहा पवन
हरियाली छाई है बन बन,
सुंदर लगता है घर आँगन

है आज मधुर सब दिग दिगंत
आया वसंत, आया वसंत।

भौरे गाते हैं नया गान,
कोकिला छेड़ती कुहू तान
हैं सब जीवों के सुखी प्राण,

इस सुख का हो अब नही अंत
घर-घर में छाये नित वसंत।

चित्र : महादेव लाल बरई, पुरुलिया तथा गूगल से साभार

From	TO
From ***BHARATIYA VIDYA MANDIR*** 12/1, Nellie Sengupta Sarani Kolkata - 700087 *(W.B.)*	TO TO

Bharatiya Vidya Mandir

Supported by

Simplex Infrastructures Ltd

PMKVY के तहत

कामगारों के लिए रोजगारोन्मुखी

निर्माण कौशल प्रशिक्षण

प्रशिक्षण कार्यक्रम की मुख्य बातें:

1. 80% अभ्यास और 20% सिद्धांत
2. कार्यस्थल अभ्यास प्रशिक्षण में निम्नलिखित अभ्यास शामिल हैं:
   - स्टील रेंफोर्समेंट पर 10 दिन का प्रशिक्षण
   - शटरिंग फॉर्मवर्क एवं करपेंट्री पर 10 दिन का प्रशिक्षण
   - मेसनरी एवं कंक्रीट टेक्नोलॉजी पर 10 दिन का प्रशिक्षण
   - सहायक इलेक्ट्रीशियन पर 10 दिन का प्रशिक्षण
   - श्रम प्रबंधन और साइट संगठन का ज्ञान
3. किसी भी प्रकार का शुल्क नहीं देना हैं
4. PMKVY के पाठ्यक्रम पूरा होने पर उत्तीर्ण कामगारों को CSDCI द्वारा प्रमाण पत्र दिया जाता हैं

सरकार की PMKVY योजना को आगे ले जाने के लिये **बी.वी.एम - सिम्प्लेक्स इंफ्रास्ट्रक्चर्स लिमिटेड**, परियोजना स्थलों पर कामगारों के लिये **कार्यस्थल अभ्यास प्रशिक्षण** की व्यवस्था कर रही है। इस प्रशिक्षण के द्वारा कामगार अपनी कमियों को दूर कर सकेंगे तथा सरकार से मान्यता प्राप्त सर्टिफिकेट भी प्राप्त कर सकेंगे।

इससे कामगारों के रोजगार में वृद्धि होगी

प्रशिक्षण अवधि एवं समय	• फ्लेक्सी प्रशिक्षण मॉड्यूल 10 दिन के लिये • समय: सुबह 9:00 बजे से शाम 5:30 बजे तक
बैच साइज	• न्यूनतम 20 कैंडिडेट तथा उच्चतम 50 कैंडिडेट प्रति बैच
प्रशिक्षण स्थान	• किसी भी कंस्ट्रक्शन साईट पर
कार्यक्रम शुल्क	• शुल्क मुक्त • CSDCI द्वारा कुशलता प्रमाण पत्र

सम्पर्क सूत्र

Kolkata (Regd. Office)
Mr. S. L. Somani
Bharatiya Vidya Mandir
12/1, Nellie Sengupta, Sarani
Kolkata – 700087, Mob. No. 9830559364
Email : shankar.somanibvm@gmail.com

New Delhi (Branch Office)
Col. N. B. Saxena
B.V.M – SIMPLEX
Vaikunth House, 82-83, Nehru Place
Delhi – 110019, Ph. No. – 011-49444200, Ext. 236
Web: www.bharatiyavidyamandir.org